बोलते क्षण

जगदीशचन्द्र माथुर

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

मित्रवर त्रिवेणी प्रसाद सिंह को
जो इन लेखों की चुटकियों में दर्द का अपनापा पाएंगे

इस लेख-संग्रह का उपनाम है—'माथुर जी की मौजें'।

मौज का अर्थ है तरंग। तरंगें लघु लहरियां भी होती हैं और उत्ताल भयावह लहरें भी। कोई तो ऐसा नहीं है जिसे जिंदगी के दौरान इन दोनों तरह की तरंगों के बीच न गुजरना पड़ा हो। मैंने बस इतना किया है कि अनुभूति के उन अंतरंग क्षणों को वाणी दे दी है। दुःख-सुख झेलते समय जो लोग संवेदनशील रहे हैं, उन्हें इन निबंधों की बोली जानी-पहचानी लगेगी।

मौज का एक अन्य अर्थ भी है। 'धर्मयुग' में 'चांद, तुम देर से उगे' लेख को पढ़ने के बाद मेरे एक पुराने परिचित सहकर्मी ने लिखा—"आपका यह लेख क्या है? स्वगत? संस्मरण? गद्यकाव्य? यात्रा-विवरण?…जो भी है, इसने मुझे मोह लिया।" मैंने उत्तर दिया, "सेमुएल जान्सन ने निबंध की जो परिभाषा लिखी है उसे याद करें—ए लूस सैली आव द माइंड! यह लेख शायद उस श्रेणी में आता है।"

इस संग्रह के कई लेख मन की अनिर्दिष्ट दौड़ हैं। मन में मौज उठी, देखी हुई दुनिया और भोगे हुए अनुभव की प्रतिक्रिया हुई, और साथ ही अभिव्यक्ति के आग्रह ने सताया, तो उस 'इंटेन्स मोमेंट'—प्रखर क्षण—को मैंने लेख में बांध लिया।

'पीठ-पीछे की कला' के पहले पृष्ठ मैंने अपनी पत्नी को सुनाए। वे बोली, "तुम्हें साहित्यकार लोग सनकी तो नहीं कहेंगे?"…निस्संदेह

इनमें से कुछ लेख सनक से ही शुरू होते हैं। सनकीपन जीवन में अप्रासंगिकता की पकड़ ही का दूसरा नाम है। संवेदनशील व्यक्ति को अक्सर अप्रासंगिक झलकियों और वहावों में जीवन की कसावट को ढीला कर देने का साधन मिलता है। आखिर ढिबरियों और कीलों से कसे इस फ्रेम से कभी-कभी तो निजात मिले !

पर मैं शिल्पी हूं; आदत से मजबूर ! ढीली और विशृंखल रेखाएं, अटपटे और सुदूर स्वर थोड़ी देर तो भले लगते हैं। पर फिर निरायास ही आकार और अलंकार, रसोत्कर्ष के सोपान और ध्वनि की रंगीनियां मेरी लेखनी पर हावी हो जाती हैं। लगता है जैसे कैलिडोस्कोप में विविध रंगों के कांच के टुकड़ों की अस्तव्यस्त बहार देखते-देखते हठात् कोई 'पैटर्न' जंच गया। दृश्य थम गया और मैं उसे ज्यों का त्यों उतारने लगा।

वातावरण और प्रकृति को सूक्ष्म और सश्लिष्ट रूपों में देखने की मेरी पुरानी आदत है। बहुत-सी छोटी-छोटी या बारीक चीजें, जिनकी ओर प्रायः मुझसे ज्यादा दुनियादार लोगों की निगाह नहीं जाती, मेरे मन में टिक जाती हैं। जब लिखने बैठता हूं तो वे बारीकियां मेरी कल्पना को उत्तेजित करती हैं। शब्दों में उनको रूपायित करते समय मैं उन भौतिक पदार्थों और प्रक्रियाओं में भावनाओं की प्राण-प्रतिष्ठा कर पाता हूं।

कोई नई बात नहीं है यह। वैदिक युग से ही कवि ऐसा करते आए हैं। हां, आज के युग में प्रकृति से मेरा ऐसा नजदीक का लगाव होना मुझे 'आउट आव डेट' कर देता है। मानता हूं, यहां भी आदत से मजबूर हूं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि मैं समसामयिक समस्याओं से बचाव खोजता हूं। बिल्कुल नहीं। इनमें शायद ही कोई लेख मिले जिसमें एक न एक समकालीन समस्या से मेरी भिड़ंत न हुई हो। मेरी कोशिश रहती है कि मनोरंजन की पगडंडियों पर मेरे साथ चलते-चलते पाठक आधुनिक समस्याओं पर गंभीर सोच-विचार के

उलझन-भरे और घने जंगल में भी विचरें। कई मसलों पर मेरे स्वर में चुनौती मिलेगी। जैसे, कहीं-कहीं अत्याधुनिकता के नये कठमुल्लेपन पर मैंने व्यंग्य किया है। लोक-जीवन की उपेक्षा मुझे अखरती रही है। अपने देश की भावात्मक एकता को नारों से परे एक शाश्वत सत्य मानता रहा हूं। आध्यात्मिकता के आमंत्रण के प्रति आधुनिक व्यक्तित्व की प्रतिक्रियाएं भी मुझे घेरती रही हैं। वस्तुतः बिना विचार-तत्त्व के मानस की तरंगें—मन की मौजें—गगनचारी दर्शक का मनोरंजन भले ही कर लें, पर मेरे जैसे संसारी जीव की नाव को पार नहीं लगा सकतीं। ये मौजें यदि इस बहाने किसी दूसरे की भी नाव को गुमराह घड़ी में सहारा दे सकें तो बुराई क्या है ? मैं उपदेशक नहीं हूं और न उस पद के लिए मेरी कोई तमन्ना ही है। पर जैसे 'न्यूट्रल' पदार्थ के माध्यम से बिजली और शक्ति का संचार वैज्ञानिक करते है, कुछ वैसे ही उत्तेजक विचारों के लिए मेरे लेख एक निरपेक्ष माध्यम बन सकें, यह अरमान जरूर है।

ललित लेख लिखने का शौक सन् १९३७ में ही लग गया था। इस संग्रह के 'आटे के दीये' के प्रथम तीन-चार पृष्ठ सन् '३७ ही में लिखे—पंत जी के 'रूपाभ' के लिए। उस समय छपे ही नहीं। अब बदली हुई परिस्थिति में लेख पूरा हुआ सन् '७२ में। 'बेसुरा राग', 'कोहरा हट गया', 'आखिरी गूंज', तीनों सन् '४० और सन् '४७ के बीच लिखे गए। बाकी में से ११ तो हाल ही की रचनाएं है और शेष सन् '४६ और सन् '६० के बीच की।

यह 'इतिहास' यह स्पष्ट करने के लिए दे रहा हूं कि इस संग्रह के ललित लेख उस धारा से भिन्न है जो पिछले छह-सात वर्षों में हिंदी के कतिपय गण्यमान्य गद्यकारों ने अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रवाहित की है। मुझे तो दिशा-संकेत मिले चार्ल्स लैम्ब के 'एसेज़ आव एलिया' से (एडिसन की अपेक्षा लैम्ब का अटपटापन और उसकी अप्रासंगिकता में रमते हुए प्रसंग पर पहुंचने की विधि मुझे अधिक रुची) और

जेरोम के जेरोम, मैक्स बीग्ररबोम, जी० के० चेस्टर्टन और जे०बी० प्रीस्टले के अनेक फुटकर निबंधों से जो द्वितीय महायुद्ध से पूर्व अंग्रेजी साहित्य के पाठकों के संस्कारों को माजते रहे थे। इसमें कोई शक नही कि निबंधो की यह परम्परा अंग्रेजी साहित्य और व्यक्तित्व की विशेष देन है। हिन्दी के बालमुकुंद गुप्त की शैली ने भी मुझे आकर्षित किया। लेकिन वह छटा द्विवेदी-युग के बाद दो-तीन दशकों के बीच लुप्त-सी हो गई।

यद्यपि 'कोहरा हट गया' और 'आखिरी गूंज' लघुकथाएं मानी जा सकती है, तथापि इस संग्रह में उन्हे इसलिए शामिल किया गया है कि उनमे मिलनेवाली झांकियों का इस संग्रह के अन्य कई चित्रों से साम्य है। जो मूरतें उनमे निखरी हैं वे काल्पनिक भी नही है।

—जगदीशचन्द्र माथुर

३०-११-१९७२
३०, कैनिंग लेन,
नई दिल्ली

क्रम

चांद, तुम देर से उगे	१३
चातुर्वर्णीयम्	२२
संस्कृति की सतरंगिनी	३३
बेसुरा राग	३८
ओ सदानीरा	४५
मसूरी में बादल	६०
पीठ-पीछे की कला	६४
वे साढ़े तीन दिन	७३
हमारी गली	९९
अशोक : रेडियो पर	१११
आटे के दीये	११७
वे बोलते क्षण	१२८
काले आसमान में चांद	१३७
संतों की जूठन	१४४
द्वारकाधीश की डायरी से	१५३
अब आप ही चुनिए	१५८
आखिरी गूंज	१७२
कोहरा हट गया	१८२

बोलते क्षण

चांद, तुम देर से उगे

चांद, तुम देर से उगे—बहुत देर से।

गहरी हरी, कालिमाच्छन्न पर्वत-प्राचीर के पीछे से तुम्हारी ज्योति की आहट दबे पांवों आनेवाली अभिसारिका की पगध्वनि के समान सुन पड़ी, और मैंने अखबार पर से अपनी आंखें उठाईं, खिड़की के आर-पार देखा। कथकली नर्तकों की भांति पर्दे के पीछे से तुम्हारा वैभव झांक रहा था। धीरे-धीरे और बर्फ से ढकी चोटियों का निश्शब्द विराट् संगीत मानो तुम्हारे क्रमागत स्वरूप की मंद गति पर ताल दे रहा था।

लेकिन तुम देर से आए चांद, क्योंकि वह ताल मेरे लिए अनसुनी हो चुकी है। क्योंकि मेरे नेत्र तो टिके हैं अखबार पर, जिसमें रॉबर्ट कैनेडी की मृत्यु के समाचार के अक्षर मानो किसी गगनव्यापी चीख की प्रतिध्वनि हों, मानो बिजली तड़की और ज्यों की त्यों ठिठककर रह गई—भयावह और आक्रांत।

मनाली की उपत्यका में तुम उग रहे ज्येष्ठ की राका के ज्योति-पुंज चांद! आसमान का यह कोना साफ है और तुम्हारी साफ-सुथरी कटी-सी रूपरेखा वह गवाक्ष है; जिसमें से राशि-राशि विभूति का सागर झांक रहा है।

प्रवंचना! कैसा ज्योति-सागर? तुम तो उधार का सौंदर्य लिए उतर रहे हो, चांद! क्या इसीलिए दबे पांव आते हो? क्या इसीलिए हिमाच्छन्न, योगी-स्वरूप चोटियों में रमते हो?

ये उत्तुंग शिखर, रजत की चट्टानें, ठंडी और निस्संग, निश्चल, अवरुद्धश्वास योगी ! न गति, न शब्द !

पर नीचे, इनकी पादुकाओं के तले, व्यास की हहराती धारा, सतत प्रवाहशील, जिनमें हलचल भी है और शोर भी। और आगे इसी व्यास की धारा के प्रचंड घर्षण से शक्ति और शब्द, गति और रव का उदय होगा—व्यास प्रोजेक्ट की बिजली का कारखाना···ये उत्तुंग शिखर इसीलिए तो योगमुद्रा में लीन हैं ताकि उनकी ऊर्ध्वश्वास मुद्रा में जो शक्ति-संचय हो रहा है, उसकी बूंद-बूंद से अनंत शक्ति और भैरवनाद की अभिव्यक्ति हो।

चांद, तुम देर से उगे !

तुम्हारे उधार लिए सौंदर्य में रमने की क्षमता मुझमें कहां ? तुम्हारे रमणीक असत्य में खो जाने की फुरसत मुझे कहां ? कैनेडी की लाश की तस्वीर अखबार के फ्रन्ट पेज को घेरे है और उसपर मेरी निगाह टिकी है। वह पादुकातले अनवरत कोलाहल की प्रतीक है और यह शोर ही सत्य है, रजत-शिखरों का मौन नहीं और न तुम्हारा नैन-सुख और चैन-भरा सौंदर्य !

पर मेरी पत्नी बदस्तूर पूर्णिमा का व्रत रखती है और तुम्हारे 'असत्य' उधार लिए मुखड़े के दर्शन की प्रतीक्षा करती हैं। अभ्रक के चूरे की धूल के समान फैलते तुम्हारे प्रकाश को देखते ही उनके अर्घ्य-पात्र से श्रद्धा की धारा बह निकलती है।

फिर भी मैं कहता हूं चांद, कि तुम देर से उगे; अब तुम्हारा आना वृथा है।

मनाली में देवदारु के जंगल में हिडिंबा के मंदिर पर छन-छनकर तुम्हारे रजत-कण बिखरेंगे, पर लकड़ी की वह नक्काशी, जिसे कुल्लू के राज्याश्रयी शिल्पियों ने मन लगाकर गढ़ा था, तुम्हारी चांदी से अलंकृत न हो सकेगी। उसे तो सीमेंट के दो भद्दे और बेडौल खंभों ने राहु-केतु की तरह ग्रस लिया है, उन खंभों के ऊपर उनसे भी अधिक असुंदर सीमेंट के शहतीर ने उस झरोखे को घेर लिया है, जिसके पीछे बैठकर राजकुल की ललनाएं मंदिर के प्रांगण में नृत्य-प्रदर्शन देखती

थीं। सीमेंट के ऊपर अंग्रेज़ी में लिखा है—"हिडिंबा टेंपिल रिपेअर्ड बाई रेकुराम—१९६४"—जिन कलाकारों ने मंदिर के द्वार पर दशावतार, नवग्रह, नर्तकों, गायकों इत्यादि के मनोहर चित्र अंकित किए, उनसे दुनिया अपरिचित है। पर सन् १९६४ मे जिस नादान ग्रामवासी ने उनकी कलाकृतियों पर अपनी कुरुचि का गोबर लीप दिया, उसका नाम हर पर्यटक पढ़ता है। सुनता हूं, वह निकट ही गांव में रहता है, साहब लोगों को शिकार कराने ले जाता है। और उनसे खासी फीस वसूल करता है। यों हज़ारों रुपये जमा हो गए। करे तो क्या करे! ग्यारह शादियां कीं, अब तीन बीवियां ज़िंदा हैं। मकान में शिकार के फोटो दीवार पर सजे हैं। सोफासेट हैं, साहब लोगों की आवभगत के लिए। फिर भी पैसा ज्यादा था, तभी तो हिडिंबा मंदिर का यह अरूप जीर्णोद्धार कराया, अमरता का सेहरा पाने को।

हिडिंबा मंदिर में हिडिंबा की मूर्ति नहीं, भीम का भी कहीं नाम नहीं। दुर्गा की ध्वस्त मूर्ति के खंड हैं। गर्भगृह में एक चट्टान है, जो बलिवेदी भी है, उसके नीचे छोटी-सी कांस्य मूर्तियां, लेकिन भीम की प्रेयसी और पत्नी की मूर्ति नहीं। पांचाल देश के निकट इस क्षेत्र में ही हिडिंबा तत्कालीन आदिवासियों की राजकुमारी रही हो तो कोई ताज्जुब नहीं। कुल्लू के क्षत्रिय राजाओं ने बाद में आदिवासी देवी पर भगवती दुर्गा का आसन जमा दिया।

मैंने देखा, दो सुंदर पहाड़ी बालिकाएं एक छोटे-से सिंहासन को अपने नन्हे कंधों पर संभाले उस जात्रा का अनुकरण कर रही थीं, जो चीड़ के इसी वन के एक कोने में प्रस्तुत होती रही है, प्रति वर्ष दशहरे के आस-पास। तब चीड़ के इस जंगल में ये खुली रंगस्थलियां जगमगा उठती हैं। पशुओं का बलिदान होता है, अनेक कंधों पर लाए गए सिंहासनों में से देवता लोग उतरते और अपने मानव भक्तों के नृत्य देखते हैं। हिडिंबा की कथा की पुनरावृत्ति की जाती है या नहीं, यह नहीं मालूम। और न यह कि देवी जिन पशुओं का भक्षण करती है, क्या वे उन पांडवों के प्रतीक हैं, जिन्हें हिडिंबा का मुखग्रास बनने को प्रस्तुत होना पड़ा था। भीम ही ने उसके भाई का मानभंजन और वध

करके आपदा को टाला और फिर उसीसे विवाह किया।

इस क्षेत्र मे किन्नरों और गंधर्वो की कल्पना तो स्वाभाविक जान पड़ती है। पर हिडिंबा और आजकल के यति क्या पहाड़ो के नाटे मानव ने गढ़े, अपने प्रभावशाली नेताओं के रूप में! या वीर पांडवों को जरूरत पड़ी अपने योग्य प्रतिनायकों की ? पांडवों का १२ वर्ष का अज्ञातवास और राम का १४ वर्ष का वनवास, दोनों अवधियो में मानो आर्य जाति ने अपने योग्य वैरी चुने और उनके विनाश की कहानियों को ऐसे संघर्ष का रूप दिया, जिसमें से उनके अपने नायक गौरवान्वित होकर निखरे। पर गौरव वैरी के पराक्रम ही में नही था, वरन् उनके समादर और प्रशंसा का पात्र बन जाने में। पांडवों को तो अपने भावी महायुद्ध के लिए सगी-साथी चाहिए थे न ? इसलिए जो वैरी थे, उन्हें रिश्तेदार और समर्थक बनाने ही मे कल्याण था।

पर मैं जानता हूं पूनम के चाद, कि तुम कुल्लू और मनाली की उपत्यकाओं और ढलानों मे फैले जंगलो में वैर और रक्तरंजित पंजों के चिह्न ही नही खोजते। तुमने यह भी तो देखा है कि कैसे जमाने से हिमालय पीड़ित और त्रस्त मानव का आश्रयदाता रहा है। व्रतियों और साधकों को ही नही, वरन् उन्हें मरहम देता रहा है, जो जीवन से क्षत-विक्षत होने पर भी अपनी कल्पना और सौंदर्य की सर्जनाओं को विध्वंसकों की क्रूर दृष्टि से बचाने के लिए यहां भागे आए। कांगड़ा-कुल्लू की इन घाटियो ही ने तो बख्तियार खिलजी के सैनिकों के विवेकहीन कट्टर सर्वभंजक हाथों से जयदेव की स्वरलहरी, राधाकृष्ण की शाश्वत आनंदलीला को बचाने के लिए भागनेवाले सेनवंशी राजाओं को आश्रय दिया!

उसके बाद ५०० बरस तक यह परंपरा पनपती रही, और उसका चरमोत्कर्ष हुआ राजा संसारचंद के राज्यकाल मे। गीतगोविंद और बिहारी के क.-. ो तूलिका में बाधनेवाले कलाकारो की कल्पना इन घाटियो और पहाड़ियों मे निर्द्वंद्व विकसित हुई।

बरसो बाद सन् १९२३ में सुदूर सेंट पीटर्सबर्ग (आधुनिक लेनिन-

ग्राड) से एक रूसी कलाकार, जो तत्कालीन राजनीतिक उलटफेर का शिकार हुआ, कांगड़ा-कुल्लू में आश्रय लेने आया। उसका नाम था काउंट निकोलाई रोरिक, जिसकी कलाकृतियां उस समय भी देश-विदेश में प्रसिद्ध हो चुकी थीं, यहां तक कि अमरीका में तो एक रोरिक केंद्र की स्थापना हो चुकी थी। हिमालय के प्रति निकोलाई रोरिक के मन में बचपन से ही अनुराग पैदा हो गया था। उसकी वंशगत जायदाद—कोठी—का नाम था 'ईस्वर'। रूस की सम्राज्ञी कैथराइन दि ग्रेट के समय में उसके निकट कोई हिंदू राजा बस गया था और उसने अपनी कोठी में मुगलकालीन बगीचा भी लगाया था। रोरिक के मकान में एक विशाल पर्वत-शिखर का भव्य चित्र था, जिसकी ओर रोरिक बचपन में अत्यधिक आकृष्ट हुआ। बहुत बाद में उसे मालूम हुआ कि वह हिमालय के उत्तुंग शिखर कंचनजंघा का चित्र था। रोरिक की पत्नी येलना के एक चचा उन्नीसवीं सदी के मध्य में भारत आए थे। लौटने पर सेंट पीटर्सबर्ग के एक शाही समारोह (नृत्य) में वह राजपूत पोशाक पहनकर शामिल हुए। पुनः भारतवर्ष लौट गए, पर उसके बाद उनका पता ही न चला।

यों हिमालय का आमंत्रण तो निकोलाई रोरिक को बहुत पहले ो मिल चुका था, सपरिवार आने की जरूरत आ पड़ी जब कि रूसी ांति के बाद उन्हें पहले तो लंदन भागना पड़ा और उसके बाद रवीन्द्र-ाथ ठाकुर के आग्रह पर भारत। १९२३-२४ में भारत-भर में खूब मे। कुल्लू घाटी का विहंगावलोकन करनेवाली पहाड़ी पर स्थित ास के तट पर नग्गर नामक स्थान में जायदाद खरीदकर वहीं पर क निराला घोंसला बनाया। सन् १९२४ से सन् १९२८ तक अपनी नी और एक अनुसंधायक दल को साथ लेकर सिक्किम से कराकोरम क सारी हिमालय श्रेणी का भ्रमण किया। मध्य एशिया से तिब्बत ते हुए अनेक कष्टों को झेलते हुए हिमालय एवं अन्य पर्वतश्रेणियों क्रोड़ में सुप्त अलभ्य कलाकृतियों और प्रकृति के रहस्यों की खोज ने के बाद सन् १९२८ में भारत वापस आए। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार की वक्र दृष्टि के कारण दो साल के लिए अमरीका चले जाना

पड़ा। सन् १९३० मे ज्यों-त्यों करके स्थायी रूप से कुल्लू घाटी में आश्रय मिला।

हिमालय की छटा अंतस् मे ऐसी समाई कि कालिदास के वर्णनों को साकार करने रोरिक की तूलिका ललक पड़ी। उसी वैभव की झाकी लेने मैं मनाली से नग्गर पहुंचता हूं।

रोरिक ने असित कुमार हलदार को एक बार लिखा था—"मुझे इस बात का गर्व है कि हिमालय के पावन और भव्य शिखरों को चित्रों पर उतारने का सौभाग्य मुझे मिला है।" नग्गर मे रोरिक की कुटीर के सामने खड़े होकर चारों ओर और ऊपर निगाह डालता हूं···कौन है जिसे इस दिव्य सौंदर्य की झांकी चितेरा या कवि बन जाने को आतुर नही करेगी ?···सामने और पीछे हिमाच्छादित लेकिन असंख्य रंगों से विभूषित चोटियां, मानो किसी निस्सीम महासागर की गहन और विशाल ऊर्मियां हमेशा-हमेशा के लिए ठिठककर खड़ी हो गई हों। नीचे घने जगल की गहरी हरियाली के बाद, धान के खेत—हल्के हरे और पियरे पोखर, किसी जादूगरी छुवन ने जिन्हें निश्चल कर दिया है। और उसके बाद रोडों और नन्ही चट्टानों के बीच किलकती उछलती व्यास नदी, जिसका पाट खुले आकाश-सा फैला है। कुल्लू की यह घाटी, जिसमे दशहरे के दिन दोनों किनारों के पर्वतों के देवता उत्सवमग्न ग्रामीणो के कंधों पर चढ़कर आते और एकत्र होते है। क्या इस छवि के दिग्दर्शन के लिए रोरिक ने उन्ही देवताओं की मंत्रणा से इस दुर्गम पहाड़ के क्रोड़ मे अपना नीड़ चुना ?

देवताओ से मंत्रणा ? रोरिक के नीड़ के चारों ओर हिमाद्रिशृंग के तुगों को देखते-देखते मैं कल्पना कर रहा हूं : देवताओं से मंत्रणा के लिए ही तो ये धवल और नील, सुवर्ण और लोहित हर्म्य, हिमालय ने रख छोड़े हैं।

सौंदर्य-द्रष्टा कवि रोरिक ऋषि रहा होगा, उन ऋषियों का वंशज जो हिमालय के इन हर्म्यों में जाकर देवताओं से मंत्रणा करते थे। कालिदास भी तो ऐसा ही ऋषि था। कालिदास के बाद रोरिक···

—

बड़ा लंबा फासला, और शायद भविष्य में यह फासला और भी बढ़ता जाए···देवताओं से मंत्रणा कर सकनेवाले दिव्य सौंदर्य-दर्शी ऋषि विरले होते जा रहे हैं।

रोरिक के उस नीड़ के कक्षों में ले जाकर मुझे रोरिक के कलाकार पुत्र स्वेतोस्लाव और उनकी पत्नी देविकारानी कलानिधि के अमूल्य रत्न दिखाते हैं। मैं चमत्कृत हूं, स्तब्ध हूं···लगता है जैसे हिमाद्रि रूप विशालकाय महाविष्णु ·वामन का लघु रूप धारण कर इन चित्रपटों पर उतर आए हों। नतमस्तक हूं तुम्हारे समक्ष, हे रोरिक महाबलि, जिसकी तूलिका से महाविष्णु हिमालय ने भिक्षा मांगी···

"यही तो तुम्हारे साथ इल्लत है," मेरी पत्नी ने मेरे कानों के पास सरगोशी की, "जहां रम गए सो रम गए। समय का कुछ खयाल ही नहीं। अभी तो बहुतेरा देखना है।"

देविकारानी वह बगीचा दिखाती है, जो निकोलाई रोरिक के जीवन-काल मे ही रोपा गया था। इस घाटी में सेब, नख, अखरोट, चेरी आदि अनेक फलों की बहार है। मालिक और मालकिन प्रायः बंगलौर रहते है, इसलिए उतनी देखभाल नही हो पाती। फिर भी प्रकृति और मानव-सुरुचि का जैसा संयोग नगर के इस मनोरम स्थल में दीखता है, वैसा श्रीनगर के चश्मेशाही के उपवन में भी नहीं। केवल जापान के बगीचों में यह बात दीखी···। जापान, जिसने भारतवर्ष से चुटकी-भर मिट्टी ली, ध्यान-मनन की और उसे जेन का विलक्षण दर्शन बना दिया; देवताओं की—वरुण, वायु, गरुड़ इत्यादि—और उनकी सुवर्णमंडित प्रतिमाओं को अपने मंदिरों की शोभा बनाया; लिपि की—देव-नागरी—और उसे उन मंत्रों में संजोकर रख दिया जो पावन चित्रों के नीचे लिखे गए हैं; बुद्ध की, जिसकी मूल गंध से सारे द्वीप को सुवासित कर सदियों की युद्धप्रिय प्रवृत्ति के निराकरण मे बार-बार वहां का भिक्षु समुदाय जुट जाता है। जापान और भारत ?···हिरोशिमा और कलिंग !

"और यह वह स्थान है," स्वेतोस्लाव बता रहे है, "जहां खड़े होकर सन् १६४६ मे जवाहरलाल नेहरू ने जब हिमालय को देखा, तो

देखते ही रह गए, योगी की तरह या स्वप्नद्रष्टा की तरह···"

मुझे याद है कि सन् १९५९ में या उसके आसपास भारतीय टेलीविजन के लिए एक संवाद-प्रोग्राम में हिस्सा लेते हुए जवाहरलाल नेहरू जी ने अपनी स्फूर्ति और ताज़गी का कारण बताते हुए एक समवयस्क किन्तु जीर्ण-शीर्ण प्रश्नकर्ता को अपने तीन रहस्य बताए थे—"मैं बच्चों में हिलमिल जाता हूं···मैं हिमालय के दिग्दर्शन में अपने को खो देता हूं···और···और मैं ओछी और छोटी बातों के परे, दूर का विज़न पाने—ऊंचे दर्जे की चीज़ों को देख सकने का आदी हूं।"

लेकिन सन् १९४६ के जवाहरलाल ने कुल्लू घाटी से हिमालय का दिग्दर्शन करते हुए क्या सोचा होगा ? जेल से छूटे थे···इलेक्शन के लिए तैयारी होने वाली थी···भविष्य का आह्वान था। कैसा भविष्य होगा वह ? ···क्या जवाहरलाल ने, कलाकार-ऋषि की भांति नहीं, एक महान जननायक की आंखों से देवताओं से नहीं, हिमालय से जिज्ञासा की होगी कि कैसे बनाऊं इस भारत-भूमि को, जिसके तुम संतरी हो, पासवां हो ? ···

शायद सन् १९४६ के जवाहरलाल के मन में यह जिज्ञासा उठी हो, क्योंकि उस समय वह उस खिलाड़ी की परिस्थिति में थे···ऊंची कूद लेने से पूर्व जिसके अंग-प्रत्यंग आतुर हों।

हिमालय से उन्हें क्या उत्तर मिला ? ···कौन जाने ? लेकिन बहुत पहले सन् १९२२ मे जिस कवि ने मातृभूमि पर शीश चढाने वाले शहीदों के पथ पर फेंके जाने की अनोखी चाह वाले फूल को अमर बनाया, उसीने 'पर्वत की अभिलाषा' में हिमालय के मन की बात भी कही थी। माखनलाल चतुर्वेदी की ये पंक्तियां किसी काव्य-संग्रह में न मिलें, पर १९२२ ही में रची गई थी :

तू चाहे मुझको हरि, सोने का मढ़ा सुमेरु बनाना मत।
तू चाहे मेरी गोद खोद कर, मणि माणिक प्रकटाना मत।
तू मिट जाने तक की, मुझ में से ज्वालाएं बरसाना मत।
लावण्यमयी लाड़ली वनदेवी का, लीला-क्षेत्र बनाना मत।

जगतीतल का मल धोने को, भू हरी-हरी कर देने को—
गंगा जमुनाएं बहा सकूं, ये देना, देर लगाना मत।

जवाहरलाल ने शायद हिमालय की इस प्रार्थना मे अपने प्रश्न का उत्तर पाया हो, या प्रतिध्वनि पाई हो अपनी ही भावनाओं की।

माखनलाल चतुर्वेदी का हिमालय ही सत्य है।···चांद, तुम देर से उगो, चाहे जल्दी,···मुझे इसकी परवाह नहीं है अब···

जब भी उगोगे, मैं तुम्हारी आती-जाती आभा में विभोर हो जाऊंगा। सौन्दर्य मेरी साधना है, किन्तु पुरुषार्थ मेरी सौन्दर्य-साधना से भी परे, लोकोत्तर सत्य है।

चातुर्वर्णीयम्

शीर्षक को देखकर आप शायद जम्हाई लें। सोचें—यह लो, एक और दकियानूसी निबंध आया हिन्दुओं के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चार वर्णों की दुहाई लेकर। भला कोई बात है, आजकल के मॉडर्न युग में और यह चर्चा···!

जी नहीं, आप समझे नहीं। अगर आप अंग्रेजी जानते है, आजकल के अंग्रेजी समाचारपत्र पढ़ते रहे हैं, तो आप तुरन्त समझ जाएंगे कि मैं वैदिक युग मे आर्यों द्वारा प्रवर्तित वर्णाश्रम धर्म का गुणगान नहीं कर रहा। मैं तो लिखने बैठा हूं उस नये माजरे पर जो आज दिन अंग्रेजी-भाषी दुनिया पर हावी हो बैठा है और चूंकि हम हिन्दुस्तानी शहरी मध्यवर्गीय लोग अपने को कम अंग्रेजीदां नहीं मानते, इसलिए हमारा भी कण्ठहार हो रहा है।

नहीं समझे ? तो, प्यारे पाठक, आप भी उतने ही पोंगा है जितना आज से चालीस बरस पहले मैं था, जब मैं अपनी छोटी-सी बस्ती से प्रयाग नगरी में इंटरमीजिएट कक्षा मे पढ़ने के लिए पहुंचा था। 'पोंगा' हमारी बस्ती में भोंदू या नादान को कहते हैं। याद है 'साहेब बीबी गुलाम' फिल्म का गीत 'भौंरा बड़ा नादान' ?···वही नादान। असल में मुझे मेरे ही नगर के मेरे बालबंधु कवि नरेन्द्र पोंगा मानते थे और कहते थे, 'यार, जब तक तुम यह रुई की वास्कट पहनते रहोगे तब तक कोई लड़की तुम्हारे पास फटकेगी भी नहीं।···अभी कुछ

बरस हुए, अमरीका में रुई की वास्कट का नया 'वर्शन' देखा—टेरिलीन के कपड़े के भीतर केमिकल रुई, पर ऊपर से वैसे ही शकलपारे, जैसे मेरी वास्टक में थे। मैंने अपनी पत्नी से कहा—निकालो भई मेरी वास्कट, फिर फैशन में दाखिल हो गई है।

हुआ ऐसा कि मैं आया तो था छोटी-सी बस्ती से हाई स्कूल परीक्षा पास करके, पर सारे प्रांत में अकेला मैं ही अंग्रेजी के पर्चों में डिस्टिंक्शन (*विशेष योग्यता यानी पचहत्तर प्रतिशत से ऊपर नम्बर*) मार ले गया था। सो जरा धाक थी और अंग्रेजी के कठिन शब्दों के माने पूछने अक्सर मेरे पास अन्य छात्र पहुंच जाते थे। मैं ठहरा पोंगा, क्या मालूम कि कुछ यार लोग जानकर अनजाने बनकर भी 'शंका-समाधान' के लिए पहुंच सकते हैं। बाद में मालूम हुआ कि फर्स्ट यीअर फूल बनाने की यह एक शरारत-भरी चाल थी। उस जमाने में 'रैगिंग' नहीं होता था। यही थोड़ी छेड़छाड़ से ही मनबहलाव हो जाता था। आधुनिक नौजवान का मनबहलाव छेड़छाड़ से नहीं होता, दूसरे महायुद्ध की हिंसा की जो औलाद हैं न? उसे तो फर्स्ट यीअर फूल को वैसी परिस्थिति में ही देखकर मनबहलाव होता है—जैसे छिपकली को कीड़े-मकोड़े को पकड़कर झिंझोरने मे।

खैर, तो साहब, दो सीनियर लड़के बड़ी संजीदा मुद्रा में मेरे पास आए और पूछने लगे—एक अंग्रेजी शब्द के माने नहीं मालूम हैं। बता सकेंगे? मैंने ताव से कहा—क्यों नहीं? क्या शब्द है? और तब उन्होंने एक चार वर्ण का शब्द दिखाया। मैं छोटी-सी बस्ती का नादान किशोर! न तो किसी किताब में वह शब्द पढ़ा था और न जो ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी उस समय मेरे पास थी, उसमें ही उसका ठिकाना था। चकराकर अपनी धाक पर बट्टा लगते देखकर भी मुझे अपनी अज्ञानता स्वीकार करनी पड़ी। कुछ निराले ढंग से खिलखिलाकर हंसते हुए दोनों सीनियर चले गए।

बाद में उस शब्द के अर्थ मालूम हुए। अंग्रेजी के उस चतुर्वर्ण शब्द के हिन्दी अर्थ का द्योतक शब्द मात्र दो वर्णों का है। अंग्रेजी में आज दिन उस शब्द की बड़ी महिमा है। 'फोर लेटर वर्ड' की संज्ञा से

उसका संकेत दिया जाता है। डी० एच० लारेन्स के खुले ग्राम बिकने वाले 'लेडी चेटर्लीज लवर' से लेकर गलियों के किनारे बिकने वाली रंगीन पुस्तकों मे उसका प्रयोग हुग्रा है। बड़े इज्जतदार समाचार-पत्रों मे उसपर विद्वत्तापूर्ण ग्रौर विवादपूर्ण लेख लिखे जा चुके है। ग्रमेरिकन ग्रौर इतालवी फिल्मों, ग्रग्रेज़ी ड्रामों (यथा 'हेयर' और 'ग्रो कैलकटा') तथा ग्रनेक ग्रनुसंधान ग्रंथों मे उसका व्यवहार हुआ है। शब्द क्या हुग्रा, मानो ग्राधुनिक पीढ़ी की क्रान्ति-भावना का नारा हो गया है।

लेकिन उन दिनों, ग्राज से चालीस साल पहले, जब मुझे उस शब्द के हिन्दी ग्रर्थ मालूम हुए तो मैं कुछ ग्राश्चर्य मे पड़ गया कि ग्राखिर ऐसी क्या बात थी कि इलाहाबाद वाले इतने खिलखिला रहे थे।··· ग्रौर ग्राज भी ग्रग्रेज़ीदां-दुनिया जिस तरह से ग्रपने इस चतुर्वर्णी शब्द को लेकर मानो मानव-विचारधारा में नवीन युग का ग्राह्वान कर रही है, वह मुझे, ग्रंग्रेजी मुहावरे के ग्रनुसार, चाय में झंझावात के तुल्य जान पड़ता है।

बात यह है कि ग्राधुनिक पाश्चात्य दुनिया ग्रपने चतुर्वर्णी शब्द को काम-भावना (सेक्स) के क्षेत्र मे नई छूट देनेवाली—पर्मिसिव—सोसायटी के प्रतीक के रूप में घोषित कर रही है। यानी चतुर्वर्ण ग्रौर काम-भावना का ग्रन्योन्याश्रयी सम्बन्ध है।

यह सही है कि यह चतुर्वर्ण नर-नारी की काम-प्रक्रिया का द्योतक शब्द है। पर चालीस बरस पहले ग्रधिकतर हिन्दी-क्षेत्रीय समाज में उस शब्द का इस्तेमाल काम-भावना नही, उबलते क्रोध के संदर्भ मे होता था। ग्राज यदि मध्यवर्ग के व्यक्ति को बहुत क्रोध ग्राएगा तो पहले तो वह खीचातानी करके ग्रपने क्रोध को ज़ब्त करना चाहेगा। ग्रसफल हुआ तो तेज स्वर में जल्दी-जल्दी बोलकर ग्रपने को संयमित दिखाना चाहेगा। या फिर तेज़ स्वर में चीखकर ग्रपने से छोटों को डांट-डपटकर या कुछ झुंझलाकर ग्रपने क्रोध को प्रकट करना चाहेगा। मतलब यह कि फव्वारे के प्रवाह को रोककर या इधर-उधर भटकाकर ग्रपनी क्रोध की धारा की गति को मंथर करना चाहेगा।

पर चालीस साल पहले खास तौर से छोटे-छोटे नगरों में यदि किसी प्रौढ़ को गुस्सा आता था तो झट से फव्वारे की धारा को धड़ल्ले के साथ छोड़ दिया जाता था और उसका माध्यम था वही द्विवर्णी शब्द जिसके चतुर्वर्णी पर्याय को लेकर अंग्रेज़ी दुनिया में इतनी चहल-पहल मची है। वह शब्द और उसके-से अनेक शब्द, जिन्हें चाहें तो आप 'गाली' कह सकते है, बिना झिझक व्यवहृत होते थे—शिष्ट से शिष्ट पुरुष-समाज में। बचपन में यद्यपि एक कुमार होने के नाते अपने समाज मे मैं उन द्विवर्णी शब्दों के व्यवहार से वंचित था, तथापि, रोज़ सुनता था उस धाराप्रवाह को और शायद मेरे दिमाग में वे शब्द काम-प्रक्रिया से सम्बद्ध नहीं थे। वे बुजुर्ग भी, जो उन शब्दों का आते-जाते क्रोध के संदर्भ में झट से इस्तेमाल करते थे, वैसा करते समय काम-भावना का ख्याल भी नहीं करते थे। यानी 'क्रोध' ही उन द्विवर्णी (या चतुर्वर्णी) शब्दों का अनुकूल वातावरण था।

ये शब्द उस ज़माने में क्रोध के वातावरण को अनजाने ही बदल देते थे। क्रुद्ध व्यक्ति के आवेश को मानो एक नाली मिल जाती थी ताकि उसके दुष्प्रभाव, उसकी गंदगी उस नाली के ज़रिये सहज ही निकल जाएं और उफनकर उसके व्यक्तित्व को भ्रष्ट और आहत न कर दें। शायद इसी कारण उन दिनों 'ब्लड-प्रेशर' की शिकायतें सुनने में कम ही आती थीं। कुछ समय हुआ, योजना आयोग में एक सज्जन थे, खासे विद्वान और दूरदर्शी, किन्तु भावुक और उत्साही भी। अपने प्रस्तावों के बारे में वह इतनी कट्टरता से दलील करते कि उनपर बहस शुरू होते ही उनका आक्रोश अनियमित होने लगता। उनके सहकर्मी कहा करते, "श्री············का 'ब्लड-प्रेशर' हर दस मिनट पर बढ़ जाता है।" मुझे अक्सर यही मलाल होता कि किसीने उन्हें वे द्विवर्णी और चतुर्वर्णी शब्द क्यों नहीं सिखा दिए! कितनी आसानी से उनका सारा आक्रोश, समस्त रोष केन्द्रीभूत हो जाता उन [illegible], [illegible] पायी शब्दों में, और वह स्वयं शिव की भांति [illegible] शाली हो जाते! ब्लड-प्रेशर तो काबू में आ ही जाता!

उनके विपरीत मेरे एक बुजुर्ग रिश्तेदार हैं। [illegible]

कारी नौकरी पर थे तो मिनिस्टरों से रोज़ ही वास्ता पड़ता था। खरे और जानकार अफसर। उनका सम्मान इसलिए था कि अपने विभाग की जटिल से जटिल समस्या को सुलझाने में समर्थ थे। कोई उनसे उलटा-सीधा काम कराना चाहे तो तड़ाक से सुना भी देते थे। एक दिन किसी बात पर मिनिस्टर से खटपट हो गई। घर आकर बिना किसी झिझक के जिन चुनीदा शब्दों में उन्होंने अपने को अभिव्यक्त किया उन्हें सुनकर बहुत-से दिलजलों की तबीयत खिल गई। ताव में आकर बोले, "और समझते क्या हैं ये लोग ?···जब काम बिगड़ेगा तो ये साले पूछेंगे किन सालों से ?···अरे, हम सालों ही के पास तो आएंगे पूछने !" मैंने दबी ज़बान से कहा, "आप तो अपने ही आपको खरी-खोटी सुना रहे हैं।" खट से जवाब मिला, "इन सालों की गुलामी करते हैं तो हम साले नहीं हैं तो क्या हैं ?"

दलील अकाट्य थी। मैं चुप हो गया। इसके बाद तो कुछ उन द्विवर्णी शब्दों का धाराप्रवाह उमड़ा जिनका ज़िक्र मैंने पहले किया है। उस पीढ़ी के लोगों की महारत भी काफी थी। 'उसने कहा था' कहानी के लेखक चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने लिखा है कि अमृतसर के तांगेवालों की झिड़की इतनी मीठी होती है कि उत्तर प्रदेश के इक्के-तांगेवालों की गालियों से जिन राहगीरों की पीठ छिल गई हैं उन-पर मरहम का काम करती है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के उस पीढ़ी के इक्के-तांगेवालों का चतुर्वर्णी और द्विवर्णी शब्दमाला पर असाधारण अधिकार होता था। सन् '३४ में एक बार टूंडला में एक एंग्लो-इंडियन तांगेवाले की सवारी पर चढ़ने का मौका मिला। रंग और पैदायश से तो एंग्लो-इंडियन ही था टॉम तांगेवाला, पर हिन्दी खासी बोल लेता था। मेरे चचा, जिनके मैं साथ था, उसके दोस्त बन गए थे। थोड़ी देर बाद बोले, "मि० टॉम !" "जी !" "कुछ हो जाए ?" "मतलब ?" इतने में घोड़े ने म्युनिसिपैलिटी की सड़क ही पर कुछ अशिष्टता की और तांगे की गति कुछ मंद हो गई। चचा साहब बोले, "तुम्हारा घोड़ा कुछ बदतमीज़ी कर रहा है न ?" टॉम साहब समझ गए। अपनी चाबुक को घोड़े की पीठ पर बदस्तूर आज़माते हुए बोले, "क्यों

बे घोड़े, तेरी इतनी जुर्रत ! तेरी ऐसी कम हँसी !" और फिर मि० टॉम ने अंग्रेजी के चतुर्वर्णी और हिन्दी के विशेषण और ध्वनि-बोधक द्विवर्णी-त्रिवर्णी शब्दों को अपने प्रखर स्वर में और प्रहल्ने के साथ कुछ ऐसे ही गूंथना शुरु किया जैसे केरल के पुराने साहित्यकार संस्कृत और मलयालम की मिली-जुली 'मणिप्रवाल' शैली में काव्यधारा प्रवाहित करते हैं। चचा साहब जितनी ही शह देते उतनी ही मि० टॉम की कल्पना उत्तेजित होती और घोड़े के साथ-साथ उनके सारे खानदान की (जिसमें मि० टॉम खुद अपने को भी शामिल करते थे) खूब ही खबर लेते।

ऐसा नहीं कि चतुर्वर्णी शब्दों का व्यवहार केवल क्रोध के संदर्भ में ही होता हो। कभी-कभी दोस्तों के बीच ये शब्द विशेष दुलार के सूचक भी होते थे। जो भी हो, चाहे क्रोध, चाहे दुलार दोनों ही अवस्थाओं में इन शब्दों का व्यवहार करनेवाला व्यक्ति इन शब्दों के अर्थों की व्याख्या नहीं करता। यह गनीमत है कि सुननेवाला भी व्याख्या करने की जरूरत नहीं समझता। वरना ये शब्द तो क्या, इनसे कहीं अधिक निर्दोष शब्द कभी-कभी अजाने ही आग में घी का काम देते हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश और बिहार में एक या एक-से ही शब्द विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करते हैं। करीब तीस साल पहले की बात है। उत्तर बिहार में रेल से यात्रा कर रहा था। टिकटचेकर आया और उसने हम लोगों से टिकट दिखाने को कहा। सामनेवाली सीट पर धोती पहने एक सज्जन उकड़ूं बैठे हुए थे। उन्होंने जिस ढंग से अपनी अंटी में से सैकिंड क्लास का टिकट निकाला उससे जाहिर था कि वह छोटे-मोटे सेठजी हैं और पछांह के रहनेवाले हैं; "देख लो जी टिकट।" उनकी इतनी-सी बात सुनते ही बिहार के उस अहिंसक-से दीखने वाले टिकटचेकर के बदन में मानो आग ही लग गई। "आप मुंह संभालकर बात कीजिए।" सेठजी चौकन्ने-से होकर बोले, "वाह जी, तुमने ही तो कहा था, टिकट दिखाओ, सो टिकट दिखा रहे हैं।" "आप फिर तू-तड़ाक कर रहे हैं। कहे देता हूं, आपके हक में अच्छा नहीं होगा।" बात बढ़ती जा रही थी। हाथापाई की नौबत आने वाली

थी। मैंने बीच-बचाव करना उचित समझा। दोनों को समझाते-बुझाते हुए मैंने कहा, "देखिए टिकटचेकर साहब, पछांह में खास तौर से पश्चिमी यू० पी० मे 'तुम' कहने का आम रिवाज है, अपरिचितों से भी। बुरा नहीं मानते, क्योंकि अपमान के ख्याल से थोड़े ही कोई कहता है।...और सेठजी, सुनिए, मैं भी पछांह का रहनेवाला हूं, देखिए, आप बिहार में यात्रा कर रहे है। जैसा देस वैसा भेस ! यहां किसी अनजान क्या, पहले से जाने-पहचाने व्यक्ति को भी 'तुम' कहकर नहीं पुकारते। गाली समझते है गाली, यहां की तहजीब में। इसलिए 'आप' ही कहिए। वरना आपकी मिट्टी ख्वार हो जाएगी।"...मामला ठंडा हुआ। मैं विचारने लगा, शब्द की महिमा और उससे भी अधिक अर्थसहित शब्द के प्रताप पर।

शब्द और अर्थ के सम्मिश्रण से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक और कभी-कभी घातक है शब्द और आचरण की अभिन्नता ! बात यह है कि यदि शब्द और आचरण एक हो जाएं तब या तो आदमी संत हो जाता है या राक्षस ! सुनते आए है, 'जो कहते हो सो करो'। पर अनुभव बताता है कि कथनी और करनी का एकीकरण सर्वदा ही मानव के लिए कल्याणकर नही होता। चतुर्वर्णी-द्विवर्णी शब्दों ही को लें। इन शब्दों और इनके अनुसार आचरण का मिलन वस्तुतः *काम* और क्रोध का भयावह संगम हो जाता है, ऐसा संगम जिसकी विकराल भंवरों और आतककारी, सर्वग्रासी उत्ताल तरंगों में शब्द जड़ हो जाते है, सौंदर्य सहम जाता है और दया, करुणा, मानवता—सभी की फटी-फटी आखों, थरथर कांपते अगों और बंधी और थमी हुई वाणी के आगे होता है अमानुषिक कृत्यों का बीभत्स अट्टहास।...

सन् १९४६-'४७ मे मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर और हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों पर अकथ्य अत्याचार ! सन् '७१ मे बंगला देश के आर्तनाद ! और उससे पहले न जाने कितनी बार, न जाने कितनी जगह, स्पेन में सिविल वार, नाजियों द्वारा समूची यहूदी जाति के विनाश का संकल्प—लगभग हर युद्ध के बाद विजेता द्वारा ग्रामों और नगरों मे ध्वंस की निर्दय लपटें, हमने क्या नही देखा, क्या नहीं सुना ?

उन लपटों में निर्दोष, निरीह जनता भस्म हो जाए; प्राण चले जाएं, दौलत, मकान, सम्पत्ति सब कुछ नष्ट हो जाए, बेकसूर लोग आहत-अंग और क्षत-विक्षत हो जाएं ! ये सब यातनाएं सह्य हो सकती हैं। किन्तु नारी की सुकुमार देह पर, प्रेमपंछी के नीड़, उरोज, तल-विहीन नाभिकुण्ड, कदली स्तम्भ-सी जंघाएं, वह देह जो निष्पाप वासना के स्पर्श से कुसुमित शय्या-सी सिहर उठती है; उसपर तीव्र इच्छा से उद्वेलित नृशंसता का आरोहण नहीं, वरन् क्रोध से अंधे, प्यार और इच्छा से शून्य, प्रतिहिंसामयी काम-भावना से प्रज्वलित पुरुष द्वारा बलात्कार !

उस क्षण, सब चतुर्वर्णी शब्द उस नरपशु के गले में अटक जाते हैं। बाज के पंजों में फंसी निर्दोष और आतंकित चिड़िया-सी नारी चिल्ला नहीं पाती। एक ही तथ्य होता है, भीषण, दानवीय शक्ति का प्रचण्ड ताप, जिन अंगों को मनुहारों से पिघल-पिघलकर प्रेम-निवेदन का साधन होना चाहिए, वे कठोर, अंधे और दुर्दान्त होकर मसलते-कुचलते बढ़ते जाते हैं, क्रूर नियति की दिशा की ओर।

कैसी विडम्बना है ! युगल प्रेमियों की उल्लासपूर्ण सुरत में भी तो उद्वेलन होता है, शतदल मसल दिए जाते हैं, अंग-अंग कम्पित हो उठता है, दंत-नखों से देहें क्षत-विक्षत हो जाती हैं।

> पहिलहि परसए करे कुचकुम्भ
> अधर पिबए के कर आरम्भ।
> तखनुक मदन पुलक भरि पूज
> निवीबन्ध बिनु फोएले फूज ।। ध्रु० ।।
> ए सखि लाजे कहब की तोहि
> कान्हक कथा पुछह जनु मोहि ।
> धम्मिल भार हार अरभाव
> पीन पयोधर नख्ख कत लाव ।।
> बाहु बलय आकम भरे भाग
> अयनि आइति नहि अपना आंग ।।

विद्यापति ने जिस बलप्रयोग के ग्रनिर्वचनीय ग्रौर पारस्परिक ग्रानंद की झांकी इन शब्दों में दी है वही ग्रसाधारण बलप्रयोग, दूसरी परिस्थिति में युग-युगो से त्रस्त नारी का ग्रभिशाप बन जाता है।

शायद मैं इस मामले में बहुत ग्रधिक 'सेंसिटिव' हूं। शायद ग्रादम ने हौवा पर बलात्कार ही किया हो। हो सकता है कि ग्रादि मानवकुल में शताब्दियों तक यह सिलसिला चलता रहा हो। जिन १६ हज़ार नारियों को श्रीकृष्ण के रनिवास में स्थान मिला, उनमें से ग्रनेकों पर, पुरुष द्वारा नारी पर काम-क्रोध की हिंसा के प्रयोग हुए हों। क्या मालूम? मुसलमानी युग में सैकड़ों गुलाम बनाकर हरम में लाई गई नारियों को भी इसी भांति का शिकार बनना पड़ा हो।

तो क्या भगवान ने नारी के शरीर में कोमलता के साथ विशेष परिस्थितियों में निरुपायता समाविष्ट कर उसे हमेशा के लिए पाशविक ग्रत्याचार का लक्ष्य बनाकर छोड़ दिया? क्या इस नियति से बचने के लिए वारांगना बनने के ग्रलावा कोई चारा नहीं छोड़ा? क्या हम लोग योनि की भ्रष्टता ग्रौर ग्रपावनता को एक तरह का 'शिबोलेथ' मान बैठे हैं? कहा जा सकता है कि शरीर के किसी भी ग्रंग पर बलप्रयोग ग्रत्याचार है। वह मासूम, जिसपर ग्रत्याचार किया जाता है, इसके लिए दोषी नहीं, उत्तरदायी नहीं। तो फिर ऐसी त्रस्त नारी को समाज ग्राह्य क्यों नहीं मानता? त्रस्त नारी स्वयं ग्रपने को ही त्याज्य ग्रौर उपेक्षिता क्यों मानती है?

प्रश्न इतना नारी की बेबसी का नहीं है। प्रश्न है पुरुष के मन में छिपे हिंसा के उस स्फुलिंग का जो उसके क्रोध को विक्षिप्त काम-वासना की ग्रोर प्रेरित करता है। वध, हत्या, ग्राघात, विनाश—पुरुष की हिंसा के लिए ग्रगणित रास्ते खुल रहे हैं। फिर भी, फिर भी न जाने क्यों पुरुष ग्रपने क्रोध ग्रौर प्रतिहिंसा की पराकाष्ठा मानता है, निरुपाय ग्रौर प्राय: निर्दोष नारी पर यौनगत बलप्रयोग में। रावण द्वारा सीता का ग्रपहरण, दुःशासन का रजस्वला द्रौपदी को खींचकर लाना ग्रौर भरी सभा में उसे निर्वसन होते देख दुर्योधन का ग्रपनी जांघ पर नेबैठ के लिए उसे ग्रामंत्रित करना, रणथम्भौर की वे

रानियां जो हम्मीर के रणक्षेत्र में मृत्यु से जूझने जाते समय चिताओं में कूद पड़ीं, उस बलि की लपटों से बचने के लिए जिसका ताप और यंत्रणा कहीं अधिक भयंकर होते।···फिर सन् '४६-'४७ में सभ्य और सामान्य-से दीखनेवाले पुरुषों की आंखों में कैसी भयानक लालसा की रंगतें—जिसके आग्नेय पाश में सिसकती मासूम युवतियों के दलित कुसुमों पर क्रूरतापूर्ण नर्तन करते हुए वे साधारण हमारे-आपके जैसे पुरुष, अट्टहास करने में अपने अस्तित्व की परिणति मानते थे !

सिर्फ एक ही तो विजय होती है इस राक्षसी पुरुष की, कि निर्दोष नारी की कुक्षि में ऐसी संतान को स्थित कर सकना जो मातृत्व की वेदना तो देती है किन्तु उसका आह्लाद नहीं।···एक समय था कि संतान-प्राप्ति के लिए नारी को नियोग द्वारा परपुरुष के प्रसंग के लिए भी प्रस्तुत रहना होता था। अम्बिका, अम्बालिका और दासी—तीनों पाराशर व्यास की सेवा में गईं; एक भय से पीली पड़ गई, एक ने नेत्र बंद कर लिए। दासी ही स्थिरचित्त होकर ऋषि के बीज को ग्रहण कर पाई।···

तो यहीं पुरुष की हिंसा की तृप्ति होती है ? ···आज की युवती के पास वे साधन तो हैं ही जिनसे इस परवशता का निवारण हो सके। अपमान की क्रूर रेखा मन पर खिंची रह जाए, तन आहत हो पर बात वहीं रुक जाए।···शायद आधुनिक नारी को इसी नियति के लिए हर दशा में तत्पर रहना पड़े।

पर, पुरुष के मन में हिंसा की जो गाज पड़ी, काश, उसका आघात उसे सदा-सदा के लिए पीड़ित करता रहे, सालता रहे उसकी स्मृति को, उसके समस्त शेष व्यक्तित्व को।···हिंसा कहां है ? जहां क्रुद्ध शब्द मौन हो जाते है, पर क्रुद्ध कर्म गतिशील हो उठता है। क्रुद्ध शब्द से क्रुद्ध कर्म की—रास्ता सपाट है, निर्बाध है, कितना आसान है ? पर यही मानव के संस्कार और संस्कार से अधिक उसका संयम लगाम बनते हैं। जिसे हम सहजवृत्ति या 'इंस्टिंक्ट' कहते है वह या तो सद्वृत्तियों का, अभ्यास के फलस्वरूप, निरायास आवेश है या कुवृत्तियों की बंधन-हीन और आवेशपूर्ण अभिव्यक्ति !

तो मेरे नौजवान भाई, नई पीढ़ी के उदीयमान लेखक और कवि; आप बशौक चतुर्वर्णी, द्विवर्णी, त्रिवर्णी शब्दों का इस्तेमाल अपनी कहानियों, कविताओं, उपन्यासों में करें। किन्तु बस इतना याद रखें कि उनके अर्थ और अर्थ से अधिक जिन प्रक्रियाओं के वे द्योतक हैं, उनकी ओर पाठक का ध्यान न खिचे, उनमें उसका आक्रोश न रमे। वरना आप दोषी होंगे पुरुष के उस प्रभुत्व का डंका पीटने के, उसकी हिंसा की उस अभिव्यक्ति को शह देने के, जो वर्तमान युग में असंगत होते हुए भी परंपरागत अहम् को पुनर्जीवित करती है और यों पुरुष जाति का अमिट कलंक बन जाती है।

संस्कृति की सतरंगिनी

···उस दिन हवाई जहाज से बिहार-बंगाल के खेतों पर निगाह पड़ी। अनगिनत आयत। मानो किसी हलवाई के थाल में पिस्ते की बर्फियां, सीधी रेखाओं से कटी हुई। राशि-राशि मरकत खेत!

मरकत!···मैं समझे बैठा था कि हरे खेत हरे होंगे। पर यह क्या? हरे रंगों में इतनी विविधता का तो मैंने अंदाज़ा भी न लिया था। हल्का हरा, गहरा सब्ज़ हरा, पीलाई लिए हुए हरा, मटमैला हरा···।

···मद्रास संगीत नाटक एकेडमी के वार्षिकोत्सव में एक बार सभापति था। विद्वानों की सभा और मैं जिन्दगी-भर अमेचर रहा, शौक बहुत-से विशेषज्ञता किसीमें नहीं। कोई पंडित श्रुतियों के वैज्ञानिक पक्ष पर बोल रहे थे कि मेरा मन भटकने लगा। कर्नाटक संगीत का गढ़ है यह मद्रास, मैं सोच रहा था, पर कहां कर्नाटक, कहां मद्रास?··· आखिर यह 'कर्नाटक' संगीत है क्या?···अधिकतर रचनाएं तेलुगु भाषा में हैं। अनेक गायक और वादक तमिलभाषी क्षेत्र के हैं, और नाम···'कर्नाटक'!···फिर वही 'विविधता' का आंचल।

···हर साल राष्ट्रीय लोकनृत्य समारोह देखने के लिए नई दिल्ली के नेशनल स्टेडियम जाता हूं। पर आप पूछें कि भारतवर्ष का लोकनृत्य क्या है, तो कैसे बताऊं? उन दो घंटों में एक करिश्मा आंखों के सामने नाचता है;—नागा नर्तक, काली, सफेद और लाल

धारियोंवाले लघु वस्त्रों में, हाथों में बर्छियां लिए हुए, कसी मांस-पेशियां, सजीले जवान, साचे मे ढली पतली आंखोंवाली युवतियां, चेहरों पर किसी भी तरह की मुद्रा नहीं—मानो कुम्हार ही ने गंभीर मुखड़े बनाए हों; मद गति, गहन स्वर ! राजस्थान के छबीले युवक-युवतियां, जिनकी बाछें खिली ही रहती है, जिनके अंग-प्रत्यंग मस्ती मे पगे हैं और जिनके घूमर की तीव्र गति को देख सिर चकराने लगता है; हिमाचल प्रदेश के नर्तक लम्बे एड़ियों तक लटके सफेद ऊ के जामे, सिर पर पगड़ियां, स्त्रिया जिनके शरीर वस्त्राभूषणों से ढके हैं, नाकों में नथें हैं, हाथों मे ढफ, स्वर मे किन्हीं दूर की घाटियों को पार करती हुई दीर्घसूत्री प्रतिध्वनियां, छोटे-छोटे कदम, पहले मंद बाद में त्वरित; केरल के मोपलों की मंडली, नर्तकों के कमर से ऊपर के बदन नंगे हैं, नीचे सफेद तहमदें, हाथों मे चट्टे की किस्म की लकड़ियां, और कोई वाद्य नहीं, गान के इने-गिने आधार स्वर, पर स्वर स्पष्ट और अनवरत, लम्बी छलांगोंवाले नृत्य;...आंध्र प्रदेश की लम्बाड़ी नर्तकियां, पृथुल जंघाओं को ढके चटकीले लाल रंग के लहंगे, पीन पयोधरों को मुश्किल से ढक सकनेवाली कसी चोलियां, पीली ओढ़नियां, सिर पर पीतल के कलसे, भुजाओं में हड्डी की चूड़ियां और कड़े,...और नृत्य-गीत, मानो गदराता, पियराता धान का खेत मंद बयार के झोंकों से लरजता हो, और उसकी बालियां मधुर मंजीरों-सी झनकती हों।...कहां है भारत का एक लोकनृत्य ?... जहां देखता हूं, सुनता हूं तो एक नहीं अनेक !

...बदरीनाथ का मंदिर। यात्रियों की लम्बी कतारें जिन्हें सिल-सिलेवार करने के लिए लोहे की छड़ियों के फेंस द्वारा तंग पथ, जिनपर यात्री एक के पीछे एक ही खड़े हो सकते हैं; मेरे आगे विहार की दो वृद्धाएं भोजपुरी में बात कर रही है, मेरे पीछे आंध्र की एक वाला अपने पति से तेलुगु में वार्ता कर रही है, मंदिर का पुजारी सुदूर केरल का निवासी है। मन्दिर कमेटी के मंत्री जो आलथी-पालथी मारे कुछ ऊंचाई पर बैठे हैं, पूरबी उत्तर प्रदेश के ब्राह्मण, मन्दिर के अलिंद में सितार बजा रहे हैं महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध वादक,...कैसी

भूलभुलैया है बदरीनाथ की परिक्रमा ! कहां-कहां के नदी-नाले, सोते-झरने यहां आन मिले है। हरेक की अलग गति, हरेक का निराला जल ! अगणित रंगों के सूत्रों को एक रज्जु में लपेटनेवाले, हे आदि शंकराचार्य, तुमने बत्तीस वर्ष की अवस्था ही में उस नील जलराशि पूर्ण महासागर की तलहटी मे बिखरे नाना रंगों की मणियों को अपनी कल्पना और कर्मठता के क्रोड़ में समेट लिया, जो मुझे अपने एक ही नीले रंग की प्रवंचना में बांधे हुए है।

···जन्माष्टमी के सप्ताह में वृंदावन। उन तंग गलियों में युगों की झंकारों की तरह ये किसकी गूंजें हैं ? ऊर्ध्वकण्ठवती गूजर वैयर-बानियों के गीत, निर्वसन उदरवती, घूंघटों में बंधी मारवाड़ी युवतियों के मुखड़ों से झरते, छने हुए-से मधुर स्वर, श्यामल आकाश-से आनन में चमकते, चंचल नयन-खगों की ताल पर थिरकते विमोहक अधरपुटों से उमड़ती हुई स्वरधाराएं—सभी तो गहन···गंभीर भंवरों में मेरे मन को डुबो रही हैं।···कृष्ण, कब मौन हुई है तुम्हारी बंसी ? कितने ही छितरे और एक-दूसरे से विभिन्न गीतों ने तुम्हारी बंसी के छिद्रों में घोंसले बना रखे है। फिर भी वही तो बंसी है—एक !—वही तो महागान है, केवल एक !

बिना अनेक के एक हुआ कब है ? अनेकत्व की बुनियादों पर ही एक संस्कृति की बुनियाद खड़ी होती है। हिन्दी भाषा की भी तो यही विलक्षणता है। भोजपुरी, मैथिली, मगही, अवधी, व्रज, बुंदेलखंडी, मालवी, राजस्थानी, बघेलखंडी, कूर्मांचली इत्यादि सभीकी अपनी सत्ता है। कुछ के तो प्राचीन और गरिमापूर्ण साहित्य है और रचे जा रहे हैं। पर हिन्दी के विस्तृत वितान ने अपने आंचल में पनपती किसी भी भाषा को अवरुद्ध तो नही किया। कौरवी (खड़ी बोली) भाषियों को भोजपुरी भाषियों से अधिक सुयोग तो नहीं मिले, शायद किसीसे भी अधिक नही।···काश, भारत की अन्य सभी भाषाएं इस ऐतिहासिक तथ्य पर दृष्टि डाल पातीं !

ऐसा क्यों नही हो पाता ? इसलिए कि जो सिद्धांत राजनीति के लिए समीचीन है उसे हम संस्कृति पर लागू करना चाहते हैं। राजनीति

पिरामिड की चूड़ामणि से प्रारम्भ होकर नीचे की ओर बढ़ती है, संस्कृति उसकी चौकोर बुनियाद को संभालने वाली एक-एक ईंट में जन्म लेती है।

जैसे पंच भौतिक शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर है वैसे ही मानव समाज की स्थूल काया के अन्दर संस्कृति। उस काया के विकारों से उसका सीधा संबंध है, उन्हीपर उसकी सत्ता अवलम्बित है, उन्हीसे उसे दाना-पानी मिलता है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर के परे, किन्तु उनसे घिरी जो निर्विकार, परिवर्तनहीन, शाश्वत आत्मा है उससे संस्कृति का कोई साम्य नहीं। संस्कृति तो काया की उपज है, यद्यपि सूक्ष्म शरीर की ही भांति एक काया से दूसरी काया, एक सभ्यता से दूसरी सभ्यता में अपना घर बनाती चलती है। सामाजिक और स्थूल जीवन के बारीक और उदात्त विकारों को ही संस्कृति की प्रेरणा कह सकते हैं।

जाहिर है कि इन विकारों में विविधता होगी, सामाजिक जीवन के अनुरूप ही उनका उठान होगा, उसीके अनुरूप उनमें ताप होगा, गन्ध होगी, आकर्षण होगा। यज्ञ की समिधा कड़वे नीम की हो, तो धुआं तिक्त होगा, चन्दन और घी एवं सुगन्धपूर्ण पदार्थों को डाला जाए, तो सुवासित धुआं निकलेगा। समझने की बात यह है कि धुआं कई प्रकार का होता है, और होना चाहिए।

संस्कृति के रूप पर विचार करते हुए आज विशेषतः भारतवर्ष मे उसको ध्यान मे रखने की जरूरत जान पड़ती है। सदियों की गुलामी से बादलों के पीछे से उगे हुए समाज की प्रत्येक चेष्टा में राजनैतिक विचारों का प्रभाव हो, यह स्वाभाविक ही है। दुनिया मे जहां कहीं राष्ट्र-निर्माण की ओर मानव समाज झुका, वहीं निर्माण के प्रत्येक क्षेत्र पर राजनैतिक विचारधारा ने आसन जा फैलाया। एक भाषा, एक राष्ट्र, एक शिक्षा-प्रणाली और एक संस्कृति, यह नारा विभिन्न देशों और युगों मे उठाया जा चुका है और आज भारत में भी उसकी गूंज है। किन्तु और क्षेत्रों में उसका जो भी परिणाम निकले, सांस्कृतिक विकास के क्षेत्र में यह सौदा प्रायः महंगा ही बैठता है। स्वाधीन

भारत के लिए राजनीतिक एकता की जरूरत है। लेकिन भारतीय संस्कृति के लिए विविधता बुनियादी है। जिन बादलों को बरसकर धरती को अन्न देना है, वे एक रंग के हों इसीमें कल्याण है। लेकिन जो मेघराशि सूर्य की किरणों से आलोकित होकर हमारी सौंदर्य-पिपासु आत्मा को तृप्त करे उसे तो सतरंगिनी ही होना है। अक्सर मुझसे मेरे विदेशी मित्र पूछते हैं कि इतनी भाषाओं, रीति-रिवाजों, अभिव्यंजनाओं के देश में हम एक संस्कृति का स्वप्न कैसे देख सकते हैं? मैं उत्तर देता हूं कि हम ऐसा सपना देखें ही क्यों? मैं तो सांस्कृतिक विभिन्नताओं के अस्तित्व में ही अपने देश की महिमा और अभिव्यक्ति का उल्लास पाता हूं। यही नहीं भारतवासी के नाते यह मेरा और मेरी सन्तान का अधिकार है कि हमें देश की विभिन्न संस्कृतियों को समझने का अवसर मिले। कुछ लोग इस बात से घबड़ाते हैं कि स्कूलों में उनके बच्चों को तीन-तीन भाषाएं सीखनी पड़ेंगी। लेकिन मुझे यह शिकायत है कि मेरे बच्चों के लिए वे खिड़कियां अब तक बन्द रहीं जिनमें से झांककर वे हमारे षोड्श-दिक्-क्षितिज की झांकियां ले सकें। यद्यपि मैं हिन्दी के अलावा बंगला और उड़िया जानता हूं तथापि मुझे यह बराबर मलाल रहा है कि मैं दक्षिण की भाषाएं नहीं सीख पाया। अपने देश की कितनी विशाल धरोहर से मैं वंचित रहा हूं!

इसीलिए मैं यह आशा बांधे हुए हूं कि वह अंधड़, जो सत्ता और चांकाओं की मरुभूमि से उठकर हमारे नादान जनसमुदाय को गुमराह कर रहा है, किसी दिन शांत हो जाएगा और उत्तर के बच्चे दक्षिण की भाषाएं सीखेंगे और दक्षिण के अंतस् में उत्तर की वाग्देवी के लिए उसी भांति नीड़ मिलता रहेगा जैसे शताब्दियों की परम्परा में होता रहा था। यों संस्कृति की सतरंगिनी हमारे विस्तृत गगनमंडल को भासमान और भास्वर कर देगी।

बेसुरा राग

आज सवेरे दफ्तर जाते समय लॉन की गोदी में अंगड़ाइयां-सी लेते हुए गुलाब के पौधो पर निगाह जा पड़ी। आंखो पर से धूप का चश्मा उतारते ही जैसे प्रकाश ही प्रकाश दीख पड़ता है, वैसे ही कुछ नयेपन का आभास हुआ। गुलाब के पौधों पर सहसा ही ये कैसे ज्योति-पुज आ लगे—रंग-बिरंगे, अज्ञातयौवना की तरह मंत्रमुग्ध। कल ही तो ये समाधि में रमे जान पडते थे। पर आज?

मैंने देखा, गुलाबी गालों पर अनगिनती बूंदें चमक रही थी और कंटीले-गर्वीले गुलाब के पौधों के चरण चूमनेवाली दूब की नन्ही पत्तियां भी उसी दौलत को सभाले हुए थीं। जो गुलाब का अलंकार था, वही दूब के लिए वरदान? सूरज की झिझकती हुई किरणें हरी पत्तियों और रंगीली पंखुड़ियों पर संभल-संभलकर उतर रही थीं, कहीं मोतियो की दौलत बिखर न जाए। कौन सोचेगा कि ये शर्मीली अप्सराएं, विश्वामित्र की तपोनिष्ठा को लूटनेवाली मेनका की तरह इन मोतियो की मालाओं को देखते ही देखते हर लेंगी, अगस्त्य की तरह पल-भर में सौन्दर्य-सागर को सुखा लेगी।

लेकिन मैं भूलता हूं। पल-भर मे नही। अब वे दिन गए कि आस दिखाते ही सूरज ओस को सुखा ले, फूल-पत्तियो को मुरझा दे। अब वे दिन गए कि नाजुक पौधों को गमलों मे संवारकर, धूप से बचाकर रखा जाए। अब तो माली ने महीनों की मेहनत से तैयार किए गए

गुलदाउदी (क्रिसान्थमम) के पौधों को बाहर बेधड़क रख दिया है। एक-एक पौधे पर एक-एक फूल इतरा रहा है। इतराए क्यों न? जितने जतन से गुलदाउदी को पोसा जाता है, उतना और किसे? यह भी कोई 'ब्राइडल वोके' है, जो वेशर्मी से, बिना मनुहार, बिना खातिर कराए, सहसा अपने विकसते यौवन की छटा दिखाने आ पहुंची? उस ऊंचे फैले हुए इमली के वृक्ष को देखिए। उसकी सबसे ऊंची फुनगियों पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक, अपनी मदमाते यौवन-भरी देह की सेज बनाए, यह ब्राइडल वोके पवन को लुभा रही है। मगर पवन है कि उसके श्वेत, नन्हे फूलों को, जो इमली की गहरी हरीतिमा के ऊपर फेनिल लहरियों की भांति बुदबुदा रहे हैं, छूते भी सकुचाता है। वह तो उधर झुका पड़ता है, जहां सजीले 'केना' की क्यारियों में लाल, पीले, गुलाबी और चकत्तेदार फूलों की बड़ी-बड़ी पंखुड़ियां चारों तरफ लटक रही हैं, नववधू के मस्तक पर लटकते सतरंगी सेहरे की तरह, या जिधर 'ऐण्टिहियम' के कुसुमवृन्त मेलों में रंग-बिरंगी ध्वजाओं की तरह, पत्तियों की भीड़ के ऊपर खड़े है, या जिधर लाल 'कार्नेशन' अपनी प्रणयसुलभ लज्जा की लालिमा को जतला रहे हैं।

आप पूछेंगे कि क्या मैं वसंत-वर्णन कर रहा हूं? क्या यही 'मदनमहीपजू को बालक बसंत' है, जिसपर कवि देव निछावर होते थे? अगर ऐसा है, तो कहां गए वे मधुकर कुंज, वह मलयपवन, वे बौर-सुगन्ध-पगी अमराइयां?

आपकी शंका ठीक है। विद्यापति और सेनापति के 'रितुपति' की छटा और ही है। ये 'नवनव तरुगन, नवनव विकसित फूल', जिनके सौन्दर्य पर मैं रीझ रहा हूं, हमारे 'नन्दन वन' की उपज नहीं हैं। ये बेचारे प्रवासी—'डेलिया', 'क्रिसान्थमम', 'ऐण्टिहियम' और 'कार्नेशन'—भारतवर्ष की शीत ऋतु में ही अपने स्वदेश यूरोप के उमंग-भरे वसंत की कल्पना कर पाते हैं, और तभी इन्हें रंगों की भाषा में बोलने का अवसर मिलता है। हमारे जाड़े के मौसम में ही उन पर वसंत की मौज छा पाती है।

मगर जाड़ों की मौजों का भी क्या कहना ! कड़ाके की सर्दी । रात होते ही कोहरा सड़कों और मैदानों मे फैल रहा है, मानो आकाश-गंगा की धाराएं धरती पर आई हों। ऐसे समय में मोटे ओवरकोट की जेबों मे हाथ डाले हुए आप बाहर निकलते हैं। सड़क पर बिजली के बल्ब, जिनपर मक्खियों के छत्ते की तरह बरसाती कीड़े-मकोड़े लदे रहते थे, अब कितने मनोरम जान पड़ते है, मानो सद्यःस्नाता किशोरी की सौन्दर्य-शोभा जलसिक्त वसनों में से झांक रही हो। 'तितलवसन तल लागू, मुनिहुक मानस मनमथ जागू'; लोग कहते है कि वसंत में ही मन्मथ जागते है। लेकिन उन लोगों से तो पूछिए जिनके सहारे वैद्यों के मदनमोदक लड्डुओं और च्यवनप्राश का कारबार चलता है, जिनकी गुदगुदी सेज पर स्वयं कामदेव और रति मोहित हो जाते हैं। जाड़ों की बहार का हाल खेल-कूद और कसरत के शौकीनो से भी पूछिए। नवम्बर का महीना आते ही आते टेनिस के लॉन तैयार हो जाते है। आंखें उस मखमली आब पर टिक नही पाती, टेनिस का गेंद क्योंकर ठहरे ? वह भी इधर से उधर नाचता फिरता है और खिलाडियों को भी नचा-नचाकर पसीने से तरबतर किए देता है। गर्मियों मे जिस पसीने से जान छुड़ाना मुश्किल हो जाता था, अब उसकी खातिर अपने को बदहवास करने में भी लुत्फ आता है। और धूप, जिसकी बेरहम लपटें उन दिनों बदन को झुलसाए देती थीं, वही धूप इस वक्त कितनी बड़ी नियामत मालूम देती है। उमर खय्याम तो पेड़ की छांह, रोटी के दो टूक, शराब के घूंट, कविता के बोल और प्रियतमा के मधुर गान पर ही लट्टू थे। मगर जाड़ों की दुपहरी में आरामकुर्सी पर बदन पसारे, हाथ मे अखबार और मुह में प्रियतमा के हाथों से लगाए पान को दबाकर धूप के दुलार-भरे सेंक पाने में जो आनंद मिलता है, वह क्या उमर खय्याम को नसीब हो सकता था ? न सही मदिरा का घूंट मगर सुरूर तो है। रुपहली धूप के मधुर स्पर्श से पिघल-पिघलकर भावों की ग्रन्थियां खुल जाती हैं। अरमानों की टोली भी जगती है—कुलांचें भरने के लिए नहीं, कवि की रहस्यमयी अनुभूति के देश में। जीवन की नश्वरता सागर की फिर-फिर आने-

वाली लहरों की तरह मन के विस्तृत और समतल किनारे को आवृत कर लेती है, और लगता है, मानो मन का पंछी सारे मरम को बिसार-कर कुहुक रहा हो, ऐसे ही जैसे कि भरपेट दूध पीने के बाद बच्चा किलकारियां देता है।

भरपेट ! यह कैसा अरोचक शब्द, यह कैसा बेसुरा राग ! कहां अध्यात्म का चिंतन, कवि की अनुभूति और कहां यह भरे हुए पेट की भोंडी कल्पना ! ! दुनिया की आस्वादु वस्तुओं में भरपेट का आसन बहुत ऊंचा है। किसीने कहा है कि यदि आदमी के जाहिलपने, उसके जंगलीपते का नंगा रूप देखना है, तो उसे अपने भोजन पर टूटते देखो। अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक डाक्टर जान्सन जैसे सभ्य पुरुष के विषय में कहा जाता है कि जिस समय वह खाने की मेज पर बैठते थे, उस समय उनकी मुद्रा देखने योग्य होती थी। आंखें तश्तरी पर गड़ी हैं। छुरी और कांटा हाथों में कसकर पकड़े हुए, उबले मांस पर पूरी शक्ति लगाकर जब वह वार करते थे, उस समय उनके मुंह से एक ही तरह का शब्द सुनाई पड़ता था, और उसकी मिसाल केवल शूकर की झटकेदार आवाज से दी जा सकती है। दुनिया का सारा साहित्य देख जाइए, नायक-नायिका, आशिक-माशूक के सम्पूर्ण हावभाव, सारी प्रक्रियाओं का वर्णन आपको मिलेगा; कैसे वे बोलते हैं, कैसा मधुर उनका संगीत है, कैसे वे नहाते हैं, कपड़े पहनते और उतारते हैं, आंखें लड़ाते और नाराज होते हैं। मगर कहीं आपने उनकी खाना खाने की मोहक मुद्राओं का भी वर्णन देखा है ? किसी शायर ने यह भी कहा है कि लैला जिस समय गहरे रंग के खजूरों को अपने चांद-से मुखड़े के करीब ले जाकर नन्हे-से मुंह के अंदर डालती थी, उस समय ऐसा मालूम देता मानो एक-एक करके परवाने बेबस होकर शमा के करीब जाते हैं और उसकी तेज लपट से झुलसकर उसीमें गायब हो जाते हैं ?

तो फिर मुझे यह बेमौके पेट की याद क्योंकर आई ? यह रेशम में टाट का पैबन्द कैसा ? उत्तर देना आसान नहीं। लेकिन मैं आपसे पूछता हूं कि क्या आपके कानों में यह बेसुरा राग कभी नहीं पहुंचा ? जब रात के घूंघट में अपना चेहरा छिपाते-छिपाते शर्मीली सांझ मन

को बेसुध कर देती है और महाचिन्तन के अगाध अम्बुधि की सतह पर जीवन आह्लादमय जान पड़ता है, तब क्या कभी 'प्रभा के पलक-मार, उर चोर' एक बिजली-सी आपके मन-प्रांगण में कौंध नहीं जाती ? यह किसी 'सुमुखि का ध्यान' नहीं है, जो आपको अधीर कर जाता है। न यह वह करुणा की रेखा है, जो वाल्मीकि के मानस मे जगी थी, न वह विराग का विषाद जो जरा, रोग और मरण की प्रथम झलक-मात्र से ही सिद्धार्थ के अन्तस्तल पर छा गया था। विफल प्रेम की पीड़ा तो एक मीठे दर्द की तरह तन-मन मे फैल जाती है। जीवन की नश्वरता की अनुभूति भी एक कुहासे की तरह व्याप्त हो जाती है। पर वह चोट जो लगते ही तिलमिला दे, हत्यारे के छुरे की तरह अकस्मात् अंधेरे को चीरती हुई हृदय में चुभ जाए, आप क्या कभी उसके शिकार नहीं हुए है ?

मैं उसका शिकार हुआ हूं। न जाने क्यों, यह बेसुरा राग कभी-कभी अनचाहे मेहमान की तरह मेरे कानों के चारों ओर भटक-भटककर मुझे बेचैन कर देता है। इन्ही जाड़ों की बात है। एक दोस्त के यहा दावत के पहले उनकी सुसज्जित बैठक में हमलोग गुदगुदे सोफो पर बैठे हुए थे। कहकहेबाजी जारी थी। कुछ मदिरा की गर्मी थी, कुछ मस्ती की उठान। 'अमिय हलाहल मद-भरे' नैनों के पलकों की पाख बनाए समय उड़ा जा रहा था। मैंने सिगरेट का एक कश लिया। नीले रेशम की गुत्थियों की तरह धुआं लहरियां लेकर ऊपर उठने लगा। और हठात् मुझे लगा कि वह धुआं मेरा पहचाना हुआ था। आखो के आगे धुंध छा गई। कमरे की चहल-पहल, रंगीली साड़ियां और रसीली मुस्कानें सब गायब होती गईं। बस, धुआं ही धुआं। फैलता हुआ नहीं, डरता हुआ, सिकुड़ता-सा धुआं, जमीन से बचकर आसमान की ओर भागता हुआ-सा धुआं।

हां, यही तो वह धुआं था, जो सुबह गेहूं के खेत के पास उस झोंपड़ी मे से उठता दीख पड़ा था। उपले और सूखी टहनियों की नन्ही-सी आग। लपटें उठते सहमती थीं। मगर फिर भी वह आग थी और धुआं उगल रही थी। और चारों ओर बैठे थे तीन प्राणी—

किसान, उसकी स्त्री और उसका बच्चा। न ऊनी शाल, न कम्बल। कोई गरम कोट नहीं, जाकेट नहीं। घुटनों के नीचे ढकने को कोई कपड़ा नहीं। और चारों तरफ कंपानेवाली सर्दी जिसकी बर्फीली अंगुलियों की जकड़ से कोई भी चीज़ बच नहीं पा रही थी। बस, नन्हीं-सी वह आग—जड़ता में जीवन का प्रतीक, गुलामी में विद्रोह का बीज, मृत्यु में उल्लास का बुदबुद—वह आग और उसका वह धुआं, यही उस ठिठुरते कुटुम्ब का एकमात्र परित्राण थे।

यकीन नहीं होता कि इसी सर्द मौसम की बहार का मैं अभी-अभी तूल बांध रहा था। ओ वेदर्द जाड़े की ऋतु, तेरे गोरे-गोरे दूध-नहाए चेहरे को देखकर मैं यह कैसे भूल गया कि तेरा दिल जमे हुए बरफ की तरह कठोर है और तेरे छूने में है पाले की टीस! चारों तरफ से कमरे को बंद करके, मुलायम और गरम रज़ाई से अपने को लपेटकर सुन्दर सपने देखते समय मैं यह कैसे भूल गया कि बाहर इमली के पेड़ के तले जहां वह लावारिस कुत्ता रिरिया रहा है, वहीं एक गरीब मज़लूम औरत अपने दो बच्चों को फटी चद्दर में लपेटे पड़ी है और अपनी उत्तप्त सांसों के सिवा उसके पास गर्मी का कोई सामान नहीं है। जिस रिक्शा पर मैं रोब से बैठा हुआ सेकेंड शो के बाद सिनेमा से लौटता हूं, उसे जो कुली दम लगाकर खींच रहा है, वह इसलिए गरम कोट नहीं खरीद पाता कि उसे अपनी बहन की शादी के लिए रुपया जुटाना है, और क्योंकि उस नासमझ से ताड़ी के घूंट के बिना रिक्शा नहीं खींचा जाता। मेरे खाने की मेज़ पर गरम अंडे, फूली-फूली कचौड़ियां और स्वादिष्ठ मांस की तश्तरियां आती हैं; उनसे भाप उठ-उठकर हमें ललचा रही है, और मैं सोचता हूं बढ़िया खाने का लुत्फ तो जाड़े में ही है। लेकिन बाहर सर्दी है। नल का पानी ठंडा है, बहुत ठंडा, और मेरा बदशकल नौकर उसी पानी से मशीन की तरह बरतन धोए चला जा रहा है। इस उम्मीद में नहीं कि उसे भी वही गरम-गरम पुष्टिकारक खाना मिलेगा, बल्कि इस उम्मीद में कि शायद मालिक की मेज़ पर से कुछ टुकड़े बच जाएं और उसके बेस्वाद भात में भी कुछ मज़ा आ जाए।

यही वह बेसुरा राग है, जो रह-रहकर दिल पर चोट करता है, मुझको बेकरार करता है। अगर मेरा दर्द ठुकराए प्यार का दर्द होता, तो मैं कवि के करुण संगीत में अथवा मृत्यु के काले आंचल में अपनापन खो सकता। अगर मेरी पीड़ा दुनिया को असार और जीवन को रीता पाकर पैदा हुई होती, तो मैं मोक्ष की प्राप्ति के लिए वैराग्य का सहारा लेता; दूसरों को उपदेश देता और अपने को दिलासा। मगर उस पीर से कहा बच सकता हूं, जो पानी की लहरों पर राह खोजती हुई, वंशी के स्वर की तरह बार-बार मन के किनारे से टकरा जाती है, वह पीर जो हमारे समाज के दुखियारे अंगों से उठ-उठकर इस समाज के सारे तन में, नस-नस मे फैल रही है और गरीब मजलूमों की पीठ पर ऐश की जिन्दगी बसर करनेवालों के चारों ओर बेताबी से चक्कर काट रही है।

मैं इससे बच नहीं सकता। आंख भले ही मूंद लू, मगर बच नहीं सकता। इस दर्द का इलाज करना है। इस बेसुरे राग को नवजीवन का संगीत बनाना है।

बाहर सर्द हवाएं चल रही हैं। आसमान चुपके-चुपके रात के अंधेरे में आंसू टपका रहा है, जिन्हें दुनिया कल ओस कहेगी। भूख और गरीबी अनाथ बच्चों की तरह सिसक रही है। यह जाड़े की ऋतु है। मगर उधर देखिए। सेमर की नंगी डालों पर लाल-लाल यह क्या फूट रहा है? ये खून के दाग नहीं, वसंत के अंकुर हैं, क्रान्ति के अग्रदूत, नये जीवन की दबी ज्वाला के स्फुलिंग, जो शीघ्र ही सारे वन मे आग लगा देंगे।

ओ जाड़े की बेदर्द ऋतु, तू आज कितना ही इठला ले, मगर तेरा समय आन पहुंचा है, और वह दिन दूर नहीं जब तेरी बर्फीली जकड़ से दुनिया छुटकारा पा जाएगी।

ओ सदानीरा

बिहार के उत्तर-पश्चिम कोण में चम्पारन क्षेत्र की भूमि पुरानी भी है और नवीन भी। हिमालय की तलहटी में जंगलों की गोदी से उतारकर मानव, मानो शैशव-सुलभ अंगों और मुस्कान वाली धरती को, ठुमक-ठुमककर चलना सिखा रहा है। नये खेत, नई पैदावार और बीच-बीच में पलाश, साल एवं अन्य जंगली वृक्षों की भटकी-सी पातें। दूर-दूर तक समतल की गई भूमि, ट्रैक्टर की आतुर अंगुलियों ने मानो जिसे परिहृत-वसना कर दिया है। तभी तो लाज से सिकुड़ी-सी इन नदियों में जल नाममात्र को रह गया है! बालू की डगरों के बीच खोई-सी रह गई हैं ये धाराएं जो कभी वनश्री के ढके वक्षस्थल में किलकती रहती थीं!

अब वे किलकती नहीं हैं। या तो लाज में गड़ी निस्पन्द सरकती रहती है, या बरसात के दिनों उन्मत्त यौवना वारांगनाओं की भांति प्रचंड नर्तन करती हैं। मसान, सिकराना, पण्डई—भुजाएं फैला-फैलाकर उसी मानव के पौरुष को ललकारती हैं जिसने उन्हें निर्वसन किया है। सन् बासठ की बाढ़ का दृश्य जिन्होंने देखा उन्हें 'रामचरितमानस' में कैकेयी के क्रोधरूपी नदी की बाढ़ की याद आई होगी।

लेकिन ढाई हजार वर्ष पहले जब गौतम बुद्ध इन नदियों के किनारे-किनारे पाटलिपुत्र से मल्लों, मौर्यों और शाक्यों को उपदेश देने जाया करते थे तब ये नदियां संयमित थी। घना जंगल था और वृक्षों

की जड़ों में पानी रुका रहता था। बाढ़ आती थी पर इतनी प्रचंड नहीं।
पिछले छह-सात सौ साल मे महावन, जो चम्पारन से गंगा तक फैला हुआ था, कटता चला गया ऐसे ही जैसे अगणित मूर्तियों का भंजन होता गया। वृक्ष भी प्रकृति देवी, वनश्री की प्रतिमाएं हैं। वसुन्धरा-भोगी मानव और धर्मान्ध मानव—एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

एक कहानी सुनी। यहां बारहवीं सदी से लगभग तीन सौ वर्ष तक कर्णाट वंश का राज्य था। प्रथम राजा नान्यदेव, चालुक्य नृपति सोमेश्वरपुत्र विक्रमादित्य के सेनापति बनकर नेपाल और मिथिला की विजय-यात्रा पर आए और फिर यहीं बस गए। इस तरह सुदूर दक्षिण का रक्त और संस्कृति इस प्रदेश की निधि बने। कितने लोग इतिहास की इस कीमियाई प्रक्रिया से परिचित हैं ? कर्णाट वंश के राजा हरिसिंहदेव को १३२५ ई० में मुसलमान आक्रमणकारी गयासुद्दीन तुगलक का मुकाबला करना पड़ा। विशाल आक्रमणकारी सेना जंगल के किनारे खड़ी थी। हरिसिंहदेव का दुर्ग वन की गहराई मे निश्चल छिपा हुआ था। वह घना वन मजबूत और मोटी प्राचीरों से भी अधिक दुर्भेद्य जान पड़ा। सुलतान घोड़े से उतरा और तलवार से उसने एक विशाल विटप के तने पर आघात किया। उसके गिरते ही बिजली-सी दौड़ गई उसके सैनिकों में, और हजारों तलवारें घने वन के वृक्षों पर टूट पड़ी। देखते ही देखते जंगल के बीच राह खुलती चली गई। हरिसिंहदेव का गढ़ अपना घोसला खो बैठा और उन्हें नेपाल भाग जाना पड़ा।

तब से जंगल जो कटने शुरू हुए तो कटते ही आ रहे हैं। नीचे धरती उपजाऊ मिलती है, राशि-राशि दास्यों की खान, जहां बीज डालने-भर की दरकार है। घने जंगलों की स्मृति में मानो पैदावार ललक उठती है। यों चाहे सात सौ वर्ष पूर्व आक्रमणकारी की तलवार ने जंगल के द्वार खोले थे, अब तो हल और ट्रैक्टर ही धरती के खजाने को अनावृत कर रहे हैं।

इस धरती के निवासी भी प्राचीन और नवीन के मिश्रण हैं। जान पड़ता है, आदिकाल से आने-जानेवालों का तांता बंधा रहा है। जंगल

से छीनी गई धरती को जोतने के लिए पुष्ट हाथ प्रायः बाहर से ही आते रहे। पिछले पांच-सात सौ वर्षों में थारु और धांगड़ जातियां यहां आकर बसीं। थारुओं के उद्भव के विषय में अनेक मत हैं। वे लोग अपने को आदिवासी नहीं मानते; थारु शब्द को थार—राजस्थान से निकला मानने लगे हैं और अपने को राजपूत की संज्ञा देते हैं। स्त्रियां न सिर्फ मर्दों की अपेक्षा अधिक कर्मठ और सजग हैं बल्कि अपने को मर्दों से उच्चस्तर का मानती हैं। अनेक कुटुम्बों में स्त्रियां किसी भी मर्द का जूठा भोजन नहीं खातीं और न मर्दों का चौके में प्रवेश होने देती हैं। किवदंती है कि मुसलमान आक्रमणकारियों से बचने के लिए कुछ राजपूतों के कुटुम्ब इधर आए। पुरुष नेपाल के जंगलों में उपयुक्त स्थान खोजने चले गए, स्त्रियों को नौकरों के पास छोड़ गए। लौटने में विलम्ब हुआ और अनेक स्त्रियों की गृहस्थी बस गई—अनुचर पुरुषों के साथ। तभी से परम्परा निकली पुरुषों को हीन स्थान देने की। कितना तथ्य है इस किम्वदंती में इसका अनुसंधान तो नृतत्त्वशास्त्र के पंडित ही कर सकते हैं। किन्तु निस्संदेह स्त्रियों की शिल्पकला और उनके गीत एक उत्कृष्ट संस्कृति के परिचायक हैं। क्या कर्णाट वंश के सामंत कुलों की स्त्रियों के वंशज हैं ये लोग? १४वीं शताब्दी में नेपाल भागते समय क्या उन्हें अपनी स्त्रियों को घने वनों में छोड़ जाना पड़ा? ध्वस्त वैभव की याद ही क्या इनकी कला और कण्ठों में संचित है?

धांगड़ों को १८वीं शताब्दी के अंत में लाया गया, नील की खेती के सिलसिले में। ये लोग दक्षिण बिहार के छोटा नागपुर पठार से लाए गए और वहां की आदिवासी जातियों—ओरांव, मुंडा, लोहार इत्यादि—के वंशज हैं। 'धांगड़' शब्द का अर्थ ओरांव भाषा में है—भाड़े का मजदूर। इनके लोकगीतों में दो सौ वर्ष पूर्व के उस महाप्रस्थान की कथा बिखरी पड़ी है जब नील के खेतों पर काम करने के लिए अंग्रेज साहबों और रामनगर के तत्कालीन राजा इन्हें यहां लाए और उसके बाद बरसों तक इन्हें लगभग गुलामी का जीवन बिताना पड़ा। आपस में धांगड़ मिश्रित ओरांव भाषा में बात करते हैं और दूसरों से भोज-

पुरी या मधेसी में। दक्षिण विहार के गया जिले से भुइंया लोग भी
इसी भांति नील की खेती के लिए हिमालय की इस तलहटी में लाए
गए। ये आदिवासी नही हैं। सम्भवतः मुसहर वर्ग के अंग है। इन
कर्मठ मजदूरों से नील कोठियों के साहब दासों की भांति काम लेते थे,
किन्तु सम्पदा में भागी ये कभी न बन पाए।

आनेवालों का तांता बंधा ही रहा है। आक्रमणकारियों से त्रस्त
राजकुलों के वंशज, आजीविका के खोजी आदिवासी और हरिजन
मजदूर, उर्वरा भूमि से सम्पदा प्राप्त करने के अभिलाषी पछांही जमीं-
दार तथा वे गोरे साहब जिन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के इस अज्ञात-से
कोने में अपना निजी वैभवशाली साम्राज्य स्थापित कर रखा था, सभी
को आश्रय दिया इस भूमि ने।

पिछले दस-बारह वर्षों में एक नया त्रस्त समुदाय यहां आया;
पूर्वी बंगाल के शरणार्थी। चम्पारन मे शायद पहला प्रयास किया गया,
पूर्वी बंगाल के शरणार्थियों को निश्चित योजना के अनुसार बसाने का।
थारुओं और धांगड़ों के बीच यह शस्य-श्यामला भूमि उनकी भी धातृ
बनी है। बिछुड़ी माता के सुखद संस्पर्श की स्मृति धान के खेतों में
इन्हे मिली और हिमालय की पदस्थली पर मानो गंगासागर ने चरणो-
दक उडेला। इतिहास की उंगलियां ऐसी वीणा पर थिरकीं जिसकी
हर झंकार एक अलग स्मृति की प्रतिध्वनि है।

उस दिन चम्पारन के एक सुदूर गाव में इस वीणा की विविध
रागिनी सुनने को मिली। थारुओं की अनुपम गृहकला, धांगड़ो का
नर्तन पूर्वी बंगाल के पुनर्वासित किसानों के करुण कीर्तन।

यद्यपि मेरे अनुरोध पर एक देहाती प्रदर्शनी का आयोजन किया
गया था, तथापि थारुओं की कला मूलतः उनके दैनिक जीवन का अंग
है। जिस पात्र में धान रखा जाता है वह सीक का बनाया जाता है,
कई तरह के रंगों और डिज़ाइनो के साथ। सीक की रंग-बिरंगी टोक-
रियों के किनारे सीप की झालर लगाई जाती है। झोंपड़ी में प्रकाश
के लिए जो दीपक है उसकी आकृति भी कलापूर्ण है। शिकारी औ
किसान के काम के जो पदार्थ मूंज से बनाए जाते है, उनमें भी सौन्द

ग्रौर उपयोगिता का ग्रद्भुत मिश्रण दीख पड़ा। किन्तु सबसे मनोहर था नववधू का एक ग्रनोखा ग्रलंकरण जो मात्र ग्राभूषण ही नहीं है। हर पत्नी दोपहर का खाना लेकर पति के पास खेत में जाती है। नववधू जब पहली बार इस कर्तव्य को निबाहने जाती है तब ग्रपने मस्तक पर एक सुन्दर पीढ़ा रखती है जिसमें तीन लटें—वेणियों की भांति लटकी रहती हैं। हर लट में धवल सीपो ग्रौर एक बीजविशेष के सफेद दाने पिरोए होते हैं। पीढ़े के ऊपर सींक की कलापूर्ण टोकरी में भोजन रखा होता है। टोकरी को दोनों हाथों से संभाले जब लाज-भरी, सुहाग-भरी वधू धीरे-धीरे खेत की ग्रोर ग्रपने पग बढ़ाती है तो सीप की वेणियां रजत-कंकणों की भांति झंकृत हो उठती है ग्रौर सारा गांव जान लेता है कि वधू ग्रपने प्रियतम को कलेउ कराने जा रही है।

इस मधुर ग्रौर स्निग्ध संस्कृति की ग्रपेक्षा धांगड़ों का सामाजिक जीवन ग्रधिक प्रखर ग्रौर उल्लासपूर्ण है। स्त्री-पुरुष दोनों मादक द्रव्य का सेवन कर ढलती शाम के मंद प्रकाश में सामूहिक नृत्य करने लगे तो मुझे लगा कि रात्रि में इन लोगों का ग्रावरण ही शयन करता है; वास्तविक व्यक्तित्व तो तभी जागता है—मादल, मद ग्रौर रागिनी के ग्रामंत्रण पर। ग्रोरांव नृत्य से मिलते-जुलते ही नृत्य होते हैं धांगड़ों के। किन्तु कुछ निजी विशेषताएं भी हैं। मर्द ग्रपने दाहिने हाथ में रंगीन रूमाल लिए उसे हिलाते जाते हैं। यह नेपाल का प्रभाव जान पड़ता है। गीतों में कल्पना ग्रौर चित्रोपमता ग्रधिक जान पड़ी। भाषा में भोजपुरी ग्रौर ग्रोरांव का मिश्रण था। नृत्य के बीच-बीच में कुछ लड़के तरह-तरह के पशुग्रों की ग्राकृति बनाकर ग्राते हैं ग्रौर गीतों की मधुर व्यंजना के बीच प्रहसन की छवि दिखा जाते हैं। रीछ, शेर, हिरन इन निसर्ग प्रेमी नर्तकों के बीच हिल-मिल कुदक रहे हैं। लगा कि सदियों की नागरिक सभ्यता के ग्रनगिनती पर्दे उठ गए ग्रौर निर्बन्ध नर-नारियों की ग्रादिम किन्तु सुषमा-भरी झांकी मिली।

ग्रौर उसके बाद पूर्वी बंगाल के कीर्तन, गम्भीर, विषादपूर्ण वातावरण में ग्रनादिगूंज का स्रोत बह निकला। भागीरथी के नाविकों की याद प्रतिध्वनित होने लगी चम्पारन के खलिहानों ग्रौर जगलों में।

बरसों बाद शायद इन कीर्तनों की ऊर्ध्व तानें छोटी होती जाएं; शायद इनका विषाद, स्मृति की रेखाएं मलीन हो जाएं और उल्लास की कड़िया मुखर हो उठें।

उल्लास! रात बीत चली और दिवस का संघर्ष अंधेरे के पर्दे के पीछे सजग हो उठा। धरती देती है किन्तु यहां का जन-जीवन समृद्ध नही बन सका। बेतिया राज की जमींदारी मे तो अंग्रेज ठेकेदार बन गए और उन्होने उन्नीसवीं सदी मे नील की खेती का विस्तार किया। नील से ही उन दिनों रंग बनते थे और इसीलिए नील की पाश्चात्य देशों में बहुत माग थी। लाखों की सम्पदा उन अंग्रेज ठेकेदारों के हाथ लगी किन्तु रैयत का कोई लाभ नही हुआ। बेतिया राज से बहुत कम अदायगी पर हजारो एकड जमीन इन गोरे ठेकेदारों ने ली। ठेठ देहात में उनकी भव्य कोठिया खड़ी हो गई। किसानों से जबरदस्ती नील की खेती कराई गई। हर बीस कट्ठा जमीन मे तीन कट्ठा नील की खेती के लिए हर किसान को रखना लाजिमी था। २०वीं सदी के प्रारम्भ में जब केमिकल रंगों के ईजाद होने पर नील की मांग कम हो गई तब भी यह जबरदस्ती चलती रही और तिनकठिया से छूट पाने के लिए किसानों को मजबूर किया गया कि वे मोटी रकमें गोरे ठेकेदारों को दें। चम्पारन और कुछ आसपास के इलाको में इन निलहे साहबों का निष्कंटक साम्राज्य था उन दिनों। जिस रास्ते पर साहब की सवारी जाती उसपर हिन्दुस्तानी अपने जानवर नही ले जा सकते थे। यदि किसी रैयत के यहां उत्सव या शादी-विवाह होते तो साहब के यहा नजराना भेजना पड़ता; साहब बीमार पडता तो रैयतो से इलाज के लिए वसूली होती; साहब हाथी खरीदना तो रैयत को अपनी गाढ़ी कमाई मे से कुछ न कुछ देना होता। अमोलवा कोठी के साहब का नाम था एमन। भीषण आतंक था एमन साहब का, आज से महज पचास वर्ष पूर्व। किसी भी रैयत की झोंपडी मे आग लगा दे, किसीको जेल में ठूंस देना यह सब रोज का काम था। और भी अत्याचार था जिसक जिक्र पुस्तकों में नही है पर जानते सब थे। एमन अपने इलाके की किर भी रूपवती कुमारी को बुला भेजता। सुहागरात से पूर्व वधू को पे

अवसर पहले एमन साहब के कक्ष में होती। यकीन नहीं होता कि यह सब आज से पाच दशक पहले ही हो रहा था। तत्कालीन शासन निलहे गोरों के हाथ का पुतला था। उन दिनों उत्तर विहार मे दौरा करने वाले अफसरों के लिए देहात मे डाकबंगले नहीं बनते थे। वे सभी साहबों की कोठियो में ठहरते थे। दक्षिण बिहार के बागी विचारों का असर चम्पारन तक देर से पहुंचे इसीलिए गंगा पर पुल बनाने की स्कीम में तत्कालीन शासन ने कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई और यों बरसों तक चम्पारन मे गोरे निलहों का राज ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया में पनपता रहा।

और आतंक और दैन्य समृद्धि और बेबसी के उस आलम में सन् १९१७ के अप्रैल मास में एक बिजली-सी कौंधी। चम्पारन मे गाधी जी के चमत्कार की कथा स्वयं राजेन्द्र बाबू ने लिखी है। स्वातंत्र्य-युद्ध के महानाटक के उस नांदीपाठ में मानो सूत्ररूप में संघर्ष और विजय की सारी गाथा ही समा गई। यहां उसका ब्योरा नहीं लिखूगा। पर मई सन् '६२ में मुझे एक अभूतपूर्व सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं तीर्थयात्रा पर निकला, उन सभी स्थानों की रज लेने जहा गाधी जी ने सन् १९१७ का अभियान किया था। उस तीर्थयात्रा में मुझे सत्संग मिला कुछ उन महानुभावों का जो सन् '१७ में गाधी जी के साथ थे। सोने मे सुहागा। मोतिहारी मे मिले श्री रामदयाल साह, गांधी जी के रहने-सहने का प्रबन्ध जिनके हाथों हुआ था एवं श्री हरवंस सहाय जो मुज़फ्फरपुर से मोतिहारी गाधी जी के साथ गए थे और उन वकीलों में से थे जो उस आन्दोलन मे उनके सलाहकार रहे। लौटने पर मुज़फ्फरपुर में श्री रामनौमी प्रसाद से मुलाकात और देर तक बातें हुईं। रामनौमी बाबू और राजेन्द्र बाबू उन दिनों गाधी जी के साथियों में अग्रगण्य थे। जिस तेजस्वी किसान के आग्रह पर गांधी जी ने चम्पारन जाना स्वीकार किया, वह राजकुमार शुक्ल सन् '१७ के पहले से ही श्री रामदयाल साह, श्री रामनौमी प्रसाद और श्री हरवंश सहाय इत्यादि के सम्पर्क मे आया था। राजकुमार शुक्ल की सन् '३० के आसपास मृत्यु हो गई।

किन्तु मेरा अविस्मरणीय अनुभव रहा सुदूर भितिहरवा गांव में।

यह गांव अमोलवा के निकट है जहां सन् '१७ में एमन साहब की तूती बोलती थी। जब गांधी जी चम्पारन की रैयत को भय और अत्याचार के चंगुल से बचाने का यत्न कर रहे थे तब उन्होंने ग्रामीण जनता की सामाजिक अवस्था के सुधार का भी श्रीगणेश किया। श्री रामनौमी प्रसाद ने बताया कि एक दिन किसी गांव मे किसानों की शिकायतों का अध्ययन करने गांधी जी जा रहे थे उनके साथ। दूर जाना था। हाथी पर दोनों सवार थे। कड़ी धूप थी। तभी गांधी जी ने ग्रामों की दुरवस्था को दूर करने में शिक्षा की महत्ता पर अपने विचार प्रकट किए। उन्होंने कहा कि जब तक ग्रामीण बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था नही होगी तब तक केवल आर्थिक समस्याओं को सुलझाने से काम नही चलेगा। उन्होने कहा कि वे चम्पारन मे कुछ ग्रामीण विद्यालयों की स्थापना करना चाहते है। थोड़े दिन बाद उन्होने तीन गांवों मे आश्रम-विद्यालय स्थापित किए—बड़हरवा, मधुबन और भितिहरवा। कुछ निष्ठावान कार्यकर्त्ताओं को तीनों गांवो में तैनात किया। ये कार्यकर्त्ता आए गुजरात और महाराष्ट्र से। बड़हरवा का विद्यालय विदेश मे शिक्षाप्राप्त इजीनियर श्री बबनजी गोखले और उनकी विदुषी पत्नी अवंतिकाबाई गोखले ने चलाया। साथ मे देवदास गाधी भी थे। मधुबन मे गांधी जी ने गुजरात से नरहरिदास पारिख और उनकी पत्नी तथा अपने सेक्रेटरी महादेव देसाई को भेजा। कुछ दिन आचार्य कृपलानी भी वहां रहे। भितिहरवा के अध्यक्ष थे वयोवृद्ध डाक्टर देव और सोमन जी। बाद मे वहां पुण्डलीक जी गए। स्वय कस्तूरबा भितिहरवा आश्रम मे रहीं और इन कर्मठ और विद्वान स्वयंसेवकों की देखभाल करती रहीं।

इन विद्यालयों का आदर्श क्या था ? इस बारे मे गांधी जी ने एक पत्र लिखा चम्पारन के तत्कालीन अंग्रेज कलक्टर को, जिससे शिक्षा-सम्बन्धी उनके आदर्शों पर प्रकाश पड़ता है। "···मैंने इन स्कूलों मे किसी तरह का नपा-तुला पाठ्यक्रम चालू नही किया है, क्योकि मैं तो पुरानी लीक से हटकर चल रहा हूं। वर्तमान शिक्षा-पद्धति को तो मैं खौफनाक और हेय मानता हूं। छोटे बच्चों के चरित्र और बुद्धि का विकास करने के बजाय यह पद्धति उन्हे बौना बनाती है। अपने प्रयोग

में वर्तमान पद्धति के गुणों को ग्रहण करते हुए मैं उसके दोषों से बचने की चेष्टा करूंगा। मुख्य उद्देश्य यह होगा कि बच्चे ऐसे पुरुष और महिलाओं के सम्पर्क में आएं जो सुसंस्कृत हों और चरित्र जिनका निष्कलुष हो। मैं तो इसे ही शिक्षा मानता हूं। अक्षरज्ञान तो इस उद्देश्य की प्राप्ति का एक साधन-मात्र है। जीविका के लिए जो बच्चे नये साधन सीखना चाहते हैं उनके लिए औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी। इरादा यह नहीं है कि शिक्षा पा लेने के बाद ये बच्चे अपने वंशगत व्यवसायों को छोड़ दें। जो ज्ञान वे स्कूल में प्राप्त करेंगे उसका उपयोग खेती और ग्रामीण जीवन को परिष्कृत करने में होगा।"
कुछ ही समय के लिए सही, गांधी जी के इन आदर्शों को भितिहरवा में भी कार्यान्वित करने की चेष्टा की गई।

उसी भितिहरवा में मैं पहुंचता हूं और मेरा भाग्य देखिए कि उसी दिन वहां मौजूद थे श्री पुण्डलीक जी। सन् '१७ में इन्हीं पुण्डलीक जी को गांधी जी ने बेलगांव से बुलाया, भितिहरवा आश्रम में रहकर बच्चों को पढ़ाने के लिए और ग्रामवासियों के दिल से भय दूर करने के लिए। वे लगभग एक साल रहे और फिर अंग्रेज़ सरकार ने उन्हें जिले से निर्वासित कर दिया। लेकिन इतना समय बीत जाने पर भी हर दो-तीन साल में अपने पुराने स्थान को देखने पुण्डलीक जी आ जाते हैं। उनके शिष्य भी मौजूद हैं—वृद्ध हो चले हैं। किन्तु पुण्डलीक जी का तेजस्वी व्यक्तित्व, बलिष्ठ शरीर, दबंग आवाज साक्षी हैं उस अग्निशिखा के जिसने गांधी जी के शीतल बंधन में बंध जाना मंजूर किया।

पुण्डलीक जी ने वह कमरा दिखाया जहां बैठकर गांधी जी काम करते थे और वह मेज़ जिसपर शायद उन्होंने चिट्ठियां लिखीं। एक मठ के निकट यह आश्रम है। गांव में गांधी जी को आश्रय देने की किसी की हिम्मत ही नहीं पड़ी। मठ के महंत ने एक महुए के पेड़ के नीचे जगह दी। वहीं गांधी जी ने खटिया बिछाई और बाद में एक झोंपड़ी बनाई जिसमें डॉ० देव आकर रहे और आश्रम को चलाते रहे। उस झोंपड़ी को एमन साहब के कर्मचारियों ने जला भी दिया। बाद में वह खपरैल का भवन बना जो अब भी बहुत कुछ मौलिक अवस्था में

है। कस्तूरबा यहां रहकर आश्रम के कार्यकर्ताओं की देखभाल करतीं। गाधी जी प्राय. बेतिया और मोतिहारी ही रहते।

पुण्डलीक जी के तीन-चार शिष्य भी मिले और पुण्डलीक जी ने सन् '१७ के अपने रोचक अनुभवों की कथाएं भी सुनाई। एक दिन एमन साहब इनके आश्रम मे आया। कायदा था कि साहब जब आए तो गृह-पति उसके घोडे की लगाम पकडे। पुण्डलीक जी ने कहा, "नही, उसे आना है तो मेरी कक्षा में आए; मैं लगाम पकड़ने नही जाऊगा।" पुण्डलीक जी ने गाधी जी से सीखी निर्भीकता और वही निर्भीकता उन्होंने गाववालों को दी। चम्पारन अभियान का सबसे बड़ा वरदान यही निर्भीकता थी। आज जब हम स्वतंत्रता के वातावरण मे स्वच्छंदता का भी नर्तन देखते है, तो शायद हम उस निरकुशता के आतंक का अंदाज भी नही लगा सकते जिसकी छाया मे हमारे अगणित देशवासी इन ग्रामीण अचलो मे कालयापन करते थे। गाधी जी ने उस दुर्भेद्य अंध-कार को चीर दिया।

किन्तु उसी चम्पारन मे उनकी दूसरी सीख को हमारा शिक्षित समाज हृदयगम नही कर सका। मैंने गांधी जी का तत्कालीन पत्र-व्यवहार अशत. पढा है। एक भी वाक्य ऐसा नहीं लिखते थे जिसके तथ्य की उन्हें पूरी जानकारी न हो। अधिकाश पत्र अंग्रेज अधिकारियों को लिखे गए थे। उनके पास तरह-तरह की खबरें आती—अतिरंजना-पूर्ण। आजकल का जमाना होता तो लोग उन खबरों को समाचारपत्रों में छापने; रोषपूर्ण दोषारोपण करते। किन्तु गाधी जी हर बात को तोलते, स्वय सत्यापन करते। बिना छानबीन किए किसी भी मामले पर नही लिखते थे। समाचारपत्रों मे अपनी 'एन्क्वायरी' के समाचार बहुत कम देते। किसी गाव से अत्याचार की खबर आती तो वहा जाकर खुद पूछ-ताछ करते या राजेन्द्र बाबू, अनुग्रह बाबू, धरणीधर बाबू इत्यादि से जांच कराते। असल मे जब सन् १९१६ की लखनऊ कांग्रेस मे लोगों ने उनसे चम्पारन की त्रस्त जनता के सम्बन्ध में प्रस्ताव रखने को कहा तो बोले, "अपनी आंखों से देखे बिना और इन बातों की जाच-पड़ताल किए बिना मैं इस मामले मे नहीं पड़ूंगा।"

निलहे साहबों के बंगलों में जाकर उनकी बातों को भी सुनते। यही वह सत्य था जिसका आचरण उनके जीवन का सम्बल था।

आज तो बिना जांच-पड़ताल के दोषारोपण करना ही सामान्य व्यवहार है। आज तो छोटी-सी बात को बढ़ाकर समाचारपत्रों एवं गुमनाम चिट्ठियों मे लिख भेजना मामूली बात है। आज सत्य धूलि-धूसरित पड़ा है जैसे भितिहरवा में आश्रम भी उपेक्षित है। कैसी है चम्पारन की यह भूमि ? मानो विस्मृति के हाथों अपनी बड़ी से बड़ी निधियों को सौंपने के लिए प्रस्तुत रहती है। गाधी-निधि गांधी जी द्वारा पावन किए गए स्थलों मे कुछ स्मारक बना रही है। लेकिन क्या यहां कोई तीर्थ टिक पाएंगे ?

भितिहरवा के पास ही रामपुरवा है जहां ध्वस्त पड़े हैं दो अशोक-स्तम्भ; एक पर सिंह था और दूसरे पर बैल। पुष्ट मौर्य कला के नमूने। शायद रामपुरवा कोई बौद्ध तीर्थ-स्थल रहा हो। गडक नदी के किनारे कई बौद्ध स्थल है—कुशीनगर, लौरिया नन्दनगढ़, अरेराज, केसरिया, चानकीगढ़ और वैशाली। कुशीनगर गोरखपुर जिले में है जहा गण्डक को नारायणी कहा जाता है। अब नदी कई मील हट गई है। भगवान बुद्ध की निर्वाण-शय्या की वह मूर्त्ति निस्सन्देह विराट् है। सम्भवतः इस मूर्ति और मंदिर का निर्माण ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में उन्ही लोगों ने कराया जिन्होंने बुद्धगया का मंदिर बनवाया था। जिस स्थान पर कुशीनगर के निवासियों ने तथागत के शरीर को भस्म किया था वहा एक ध्वस्त स्तूप खड़ा है। तथागत की भस्म के ऊपर गण्डक नदी के आसपास अनेक स्तूप बने, अनेक स्मारक बने। गण्डक के पूर्वी तट पर बिहार में नंदनगढ़ का विशाल स्तूप प्राचीन स्थापत्य की अभूतपूर्व कृति है। इसका मुकाबला जावा का बरबदूर का मंदिर ही कर सकता है। अभी तक इसका काल-निर्णय नहीं हो पाया है। ८२ फुट ऊंचे, १५०० फुट वृत्ताकार इस स्तूप के शीर्षस्थल के निकट मैंने वह स्थान देखा जहां एक छत्राकार स्मारक के भीतर कांसे के बरतन में भोजपत्र पर लिखी चौथी शताब्दी की एक बौद्ध पाण्डुलिपि पाई गई थी। थोड़ी ही दूर पर अशोक का बनाया हुआ लौरिया नन्दन-

गढ़ का सिंह स्तम्भ है। मेरे विचार मे यह अशोक का सबसे कलापूर्ण स्तम्भ है। लेख भी स्पष्ट है। इस लेख, और उससे कुछ दक्षिण मे अरेराज स्तम्भ पर अंकित लेखों मे शासन के सिद्धान्तो का प्रतिपादन है। महामात्रों को जनता के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका आदेश है। पशुवध की मनाही की गई है, तत्कालीन कमिश्नरो को अपने कर्त्तव्य और आदर्शों की याद दिलाई गई है। आजकल का कमिश्नर, मैं, गगनस्पर्शी सिंह की भंगिमा और उसके नीचे खुदे इन लेखों को देखते-देखते मानो २२०० वर्ष पहले के प्रतापी किन्तु करुणार्द्र स्वर की प्रतिध्वनि सुन पा रहा हूं। वह स्वर आज भी कितना खरा है, आज के अधिकारी वर्ग के लिए भी कितना चुनौतीपूर्ण है!

लौरिया नन्दनगढ़ से ही एक नदी रामपुरवा और भितिहरवा होते हुए उत्तर मे नेपाल के निकट भिखनाथोरी तक जाती है। नाम है पण्डई नदी और शायद इसीके सहारे भगवान बुद्ध और बाद मे अनेक भिक्खु (भिखना शब्द से साम्य देखिए) जाते थे लुम्बिनी और नेपाल। फाह्यान और ह्वेनसांग भी इसी पथ से आए थे। लौरिया नन्दनगढ़ निश्चय ही एक विशाल पावन स्थल रहा होगा। अनेक टीले खुदाई की प्रतीक्षा में सदियों का रहस्य अपने हृदय में छिपाए पड़े है।

लौरिया के दक्षिण मे अरेराज, अरेराज के दक्षिण में केसरिया और फिर वैशाली। यही तो वह पथ था जिससे भगवान बुद्ध अपनी अन्तिम यात्रा पर गए थे। अपनी परम प्रिय नगरी, गणतत्री लिच्छवियों की राजधानी वैशाली में अंतिम दर्शन के लिए भगवान ने अपने समस्त शरीर को गजराज की तरह घुमाया और बोले, "आनन्द, तथागत का यह अंतिम दर्शन है।" लिच्छवि रास्ता रोककर खड़े हो गए। बीच में नदी आ गई। तथागत ने अपना भिक्षापात्र उन्हे दे दिया। इसी वैशाली में अम्बपाली ने तथागत को अपना आम्रकानन समर्पित किया था। और इसी वैशाली में जैन धर्म के तेजस्वी तीर्थंकर भगवान महावीर का जन्म हुआ था। आज जैन समाज अपनी इस पुण्य धरोहर को भूल गया है। ऐसे ही जैसे पौराणिक धर्मावलम्बी हिमालय की तलहटी में भैंसालोटन की महत्ता को भूल-से गए हैं। जहां हिमालय की

छोटी पहाड़ियों के बीच गंडक चट्टानी दीवारों के बीच गुजरती है, वहां मैंने देखा घड़ियालों का निवास-स्थल। किम्वदन्ती है कि गज-ग्राह की लड़ाई वहीं शुरू हुई। पंचनद नदी गण्डक से यही मिलती है। पंचनद के कुछ ऊपर तमसा नदी मिलती है। वहीं शायद वाल्मीकि आश्रम है। अनेक घ्वस्त मूर्त्तियां बिखरी पड़ी हैं। इस गण्डक के सहारे-सहारे चलिए तो एक सौ तिहत्तर मील की दूरी पर पटना के सामने सोनपुर के निकट गंडक-गंगा के संगम पर हरिहरक्षेत्र मिलेगा जहां, कहते हैं, गज-ग्राह युद्ध समाप्त हुआ और गज का संकटमोचन हुआ।

वर्तमान और अतीत की आद्यन्तहीन कड़ी है गण्डक नदी। न जाने कितने महात्माओं और संतों ने इसके किनारे तप और तेज पाया, किन्तु गण्डक कभी गंभीर न बन सकी और इसीलिए इसके किनारे तीर्थस्थल भी स्थायी न रह सके। हिमालय के चरणों में त्रिवेणी (भैसालोटन) से लेकर सोनपुर के हरिहरक्षेत्र तक गण्डक के किनारों पर ऐसे तीर्थों की मानो समाधियां बिखरी पड़ी हैं जो शायद अवसर मिलने पर अयोध्या, हरिद्वार, मथुरा, काशी बन जाते। पर गण्डक तो उच्छृंखल कन्या ही रही—ज्येष्ठा—सहोदरा गंगा का गांभीर्य इसे सुहाया ही नहीं।

तब अतीत की कौन स्मृतियां गण्डक ने छोड़ी है? भवन नहीं, मंदिर नहीं, घाट नहीं। हवाई जहाज से गण्डक घाटी के दोनों ओर नाना आकृति के ताल दीख पड़ते हैं, कहीं उथले कहीं गहरे किन्तु प्रायः सभी शस्यश्यामला धरती रूपी गगन के विशाल अंतस् में ठिठकी हुई बदलियों की भांति टेढ़े-मेढ़े, परन्तु शुभ्र एवं निर्मल। इन तालों को कहते हैं चौर और मन। चौर उथले ताल है जिनमे पानी जाड़ों और गर्मियों में कम हो जाता है और खेती भी होती है। मन विशाल और गहरे ताल हैं। 'मन' शब्द मानस का अपभ्रंश है। गण्डक के उच्छृंखल नर्तन के समय बिखरे हुए आभूषण है मानो ये मन और चौर। बाढ़ आई, तटों का उल्लघन कर नदी ने दूसरा पथ पकड़ा। पुराने पथ पर रह गए ये चौर और मानस जिनकी गहराई तल को स्पर्श कर धरती के हृदय से स्रोत को फोड़ लाई। वही मानस बन गए।

ऐसा ही एक ताल है सरैयामन। बेतिया नगर से ४ मील दूर कच्ची और ऊबड़-खाबड़ सड़क से हम लोग पहुंचे एक मनोरम जंगल के किनारे। त्रयोदशी का चांद अपना साम्राज्य फैलाए हुए था। बेतिया राज ने इस जंगल को सुरक्षित रखा और अब यह १३० एकड़ रकबे का अभय क्षेत्र है—जंगल विभाग की ओर से सागौन, यूक-लिप्टस, आम इत्यादि के वन लगाए जा रहे हैं। एक नर्सरी भी है किन्तु प्राचीन जंगल को भी सुरक्षित रखे जाने की कोशिश की जा रही है। एक मील वनपथ पर चलने के बाद हम मन के किनारे पहुंचे। विशाल ताल, बीच में द्वीप और तीन ओर जलराशि। नौकाविहार को निकले। नन्ही लहरियों पर चादनी के प्रतिबिम्ब खद्योत बार-बार झलक दिखा-कर अंतर्धान हो जाते। नौका आगे बढ़ी। सामने रजतराशि-निस्सीम; बायी तरफ द्वीप और कमलपत्र और दायें घने वृक्ष जिनकी छाया मानो नौका को ग्रसने को आतुर थी। बीच धारा में पहुंचने पर नाविकों ने कहा, "जल पीजिए, बड़ा स्वास्थ्यवर्धक है।" बात यह है कि शताब्दियों से यहां किनारे पर लगे जामुन के वृक्ष-समूहों से जामुन के अगणित फल गिरते रहे हैं और इस तरह सरैयामन के जल का वैद्यक सिद्धान्त के अनुसार शोध होता रहा है। बेतिया नगर से अनेक अमीर बीमार इस जल को घड़ों मे मगाते है।

सरैयामन का जल स्थिर है, निबद्ध है किन्तु गण्डक नदी का जल तो सदियो से चंचल रहा है। जिसने इतने तीरथ तोड़े, क्या वह कोई वरदान दे सकेगी उन असंख्य प्राणियों को जो इसकी घाटी में संघर्ष और अभाव का जीवन बिताते रहे हैं? चम्पारन जिले में मोटर से घूमते हुए जहा मैंने इतने ध्वस्त स्तूप, मंदिर और स्तम्भ देखे वहां एक और भी प्रकार की प्राचीरें जगह-जगह मस्तक उठाए दीख पड़ीं। ये ईंटो और पत्थरों के निरुपाय खंडहर नही है। इनपर प्राचीन लिपियों मे लेख भी नही। लेकिन नई कुदालियों और फावड़ों की छाप, नये पौरुप की छाप है इनपर। ये प्राचीरें है, गण्डक घाटी योजना की नहरों के तटबंध जिन्हें लाखों मजदूर तैयार कर रहे हैं। एक होगी पश्चिमी नहर—एक सौ बीस मील लम्बी, जिसका साढ़े ग्यारह मील नेपाल में

पड़ेंगे। साढ़े अड़सठ मील उत्तर प्रदेश (गोरखपुर और देवरिया जिले) में और शेष बिहार के सारन जिले में। पूर्वी नहर की लम्बाई १५५ मील होगी। इसके द्वारा नेपाल और तिरहुत के विशाल क्षेत्र की आबपाशी होगी। इसके अलावा नेपाल के लिए एक पावर हाउस भी बनेगा। भैंसालोटन से ये नहरें निकलेंगी और वहां लगभग ३००० फुट लम्बा बराज बन रहा है जिसके ऊपर से सड़क और रेल ले जाए जाने की सम्भावना है। कुल मिलाकर ४१·४६ लाख एकड़ जमीन की आबपाशी इन नहरों से होगी। कुल व्यय होगा लगभग चालीस करोड़ रुपया।

भैंसालोटन में भारतीय इंजीनियर जंगल के बीच इस नवीन जीवन-केन्द्र का निर्माण कर रहे है। प्राणवान विद्युत् तुल्य शिराओं का जाल फैला रहे हैं। मोटरबोट गण्डक के वक्षस्थल को चीरकर आगे बढ़ रही थी और इंजीनियर लोग मुझे बराज और नहरों की टेकनिकल बातें समझा रहे थे। और मैं सोच रहा हूं—शायद युग-युगों से होती आई गज और ग्राह की लड़ाई का अंत होने जा रहा है। दैन्य और अभाव के ग्राह के विकराल मुख में फंसे जन-समुदाय का संकट-मोचन करने के लिए एक अजेय पौरुषयुक्त नारायण के विराट् रूप का निर्माण हो रहा है। ये नहरें ही उस नारायण की अनेक भुजाएं हैं; बिजली के तारों का जाल ही तो उसका प्राणकर्त्ता चक्र है। और मैं मन ही मन नमस्कार करता हूं इन इंजीनियरों को, विश्वकर्माओं को, मजदूरों को जो भगवान के इस नूतन विराट् रूप के विधाता है; जिनकी बुद्धि और परिश्रम की गाथा कवि और कलाकार अंकित करें या न करें लेकिन जिनकी बनाई मूर्त्ति में प्राण का संचार होते ही सदियों से भग्न मंदिर ज्योतित हो उठेंगे।

ओ सदानीरा! ओ चक्रा! ओ नारायणी! ओ महागण्डक! युगों से दीन-हीन जनता इन विविध नामों से तुझे सम्बोधित करती रही है। तेरी चिरचंचल धारा ने उनकी आराधना के कुसुमों, अगणित तीर्थों को ठुकरा दिया। पर आज तेरे पूजन के लिए जिस नये मंदिर की प्रतिष्ठा हो रही है, उसकी नींव बहुत गहरी है। इसे तू ठुकरा न पाएगी।

मसूरी में बादल

हिमालय के शुभ्र, निष्कलुष, बालिका-सुलभ आनन पर मसूरी पाउडर का ललित किन्तु कृत्रिम स्पर्श है।

और पाउडर की ही भांति क्षणिक भी। बरसात आते ही हिमालय के सदाबहार वृक्षों की पत्तियां धुलने लगती है और मसूरी की सड़कों पर से भीड़ भी! देखते ही देखते, साड़ियों की रंगीनियां, फैशन की जगमगाहट और मध्यरात्रि के उत्सवों की हलचल फीकी पड़ने लगती है, मानो गहरी नीद से जाग, हिमालय ने करवट ली हो और धृष्ट मानव का लघु प्रयास—कृत्रिमता का आवरण—वह पाउडर छिटक-कर बाहर जा पड़ा हो।

जिन बूंदों के स्पर्श से हिमालय निद्रा से जगा, आज उन्हीका तो श्रीगणेश है। मैं देख रहा हूं!—वह घाटी पर अंधेरा छाने लगा। सामने की पहाड़ियों पर एक घना नील वितान-सा तन रहा है और द्रुतगति से श्यामल पताकाओं की भांति बादल उमड़े आ रहे हैं। कहीं काजल-से काले, कहीं सागर की उत्ताल तरंगों-से नीले, कहीं-कहीं गोधूलि की भांति मटियाले। घाटी सहम रही है। वृक्ष उत्सुक मुद्रा में खड़े हैं, और गहरे खड्ड की विशाल प्राचीरों के भीतर मेघदूतों का काफिला बढ़ा चला आ रहा है। अधीर पवन ने आनत तरु-डालियों को झकझोरना शुरू कर दिया। और तभी एक वज्रतनया चील अपने विशाल डैने फैलाए वायु को उन्मत्त तरंगों से छाती भिड़ाने उड़ चली।

सारी घाटी को आक्रांत करनेवाले पवन-हिलोरों को अवरुद्ध करने की पागल आकांक्षा से प्रेरित यह पंछी किस भीषण प्रयास में रत है? पवन की हिलोरों पर आरूढ़ होने का झूठा आभास,—मगर कैसी हिम्मत, कैसे अरमान, कैसा आवेग !

और अब वह श्यामल वितान फैल रहा है। उसकी गहरी कालिमा धुंधलका बन रही है। हल्की और हल्की-घनी परतें मानो झीनी-झीनी हो चलीं! रुई के फाहे-सी!—पेड़ खो गए, पत्तियां खो गई!—तन-तन में, रोयें-रोयें में कुहासा! मानो सारा भूखण्ड एक विशाल सागर की तलहटी हो और घूमते-फिरते स्त्री-पुरुष जल-जन्तु! सड़क से नीचे खड्ड में बादल भर गए—अनंत ब्रह्माण्ड की भांति रहस्य-पूर्ण! यह हमारी वही चिरपरिचित घाटी है या हम अतल निस्सीम के छोर पर खड़े है?

हवा बह रही है! खिड़की में से, तेजी से तुहिनकण-से जलद तृण भागे चले आ रहे हैं, अपना अस्तित्व खो देने-भर के लिए।

और उधर प्रीतम के प्रगाढ़ालिंगन के लिए आतुर नायिका की भांति बादल-कन्याएं अपनी-अपनी घुंघराली अलकों को पर्वत की देह पर बिखेर दे रही है। झड़ी लग रही है।

कुछ देर बाद। धुला-धुला भूखण्ड; आकाश अपने वैभव को खो बैठा—रीता-सा। कुहासा थम गया। किन्तु यह क्या? कन्दराओं में से ये कौन-सी कोमल-वदना अप्सराएं, श्लथ, मंद चरण, मंथर-मंथर गति से शिखरों की ओर बढ़ी चली आ रही हैं—धवल, कोमल, स्वच्छ! मानो झीने श्वेत हिमतुल्य वसनों को अपना जीवन दे कोई सुन्दरी अंतर्धान हो गई हो और वे प्राण-संचालित वसन ही नायिका के मिस चल रहे हों!

हिमवंत का यह विराट् रूप—कन्दराएं जिसके माथे की शिकन हैं, ये कठोर चट्टानें जिसकी पुष्ट, पौरुषपूर्ण भुजाएं हैं! उसकी गोदी में ये बादल-कुमारियां घाटी की तलहटी से निकल-निकल मंथर गति से बढ

रही हैं। और वह देखो ठहर गई; प्रियतम के ओड़ में! हिमवंत है कठोर और मेघकुमारी कोमल; एक श्यामल दूसरी शुभ्र: एक गति-हीन दूसरी चंचल; एक पुरुष दूसरी नारी। सृष्टि के आदि नियम के प्रतीक! पाषाण और प्राण का सम्मिलन, कठोर और कोमल का संयोग! कौन किसका भार संभाले है?...गर्वीले पाषाण, नारी का स्पर्श तुझे द्रवित करके रहेगा!...उसी स्खलन में तो सृजन के बीज हैं!

यही वे बादल हैं जिन्हें कालिदास ने अपनी कल्पना के बंधन में बांधा। यही वह वज्र है, इंद्रदेव जिसे अपना अस्त्र बनाए है! वज्र! उस प्रचण्ड शक्ति को क्या यही प्रतनु अप्सराएं संभाले विचरण कर रही हैं?

यह भाप मेरे कमरे में घुस आई। जेम्स वाट ने इसीको 'केतली' के अन्दर से उठते देखा और कुछ वर्षों में वाष्पशक्ति का आविष्कार हुआ। रेल-इंजिन—विशाल शक्ति का मूर्तिमान स्वरूप भीमकाय, अतुल बल-शाली, अनंत गतिमान!!

किसको बड़ा मानूं? कालिदास को या जेम्स वाट को? एक ने उसे मानव की कल्पना और भावनाओं का वाहन बनाया और दूसरे ने मानव की आवश्यकताओं का!

कहां से कहां भटक गया? बादल-कुमारियां तो कंदराओं की क्रोड़ में विलीन हो चलीं। और सामने पारदर्शक यंत्र की भांति स्वच्छ वायु-मण्डल के नीचे देहरादून की उपत्यका के अर्धविकसित अधर सम्पुटों में धवल दंतपंक्तियों-से मकान झलक रहे हैं। वह जो कुहासे में अतीत के अस्पष्ट चिह्न थे, अब समीप आकर आंख-मिचौनी का आमंत्रण दे रहे हैं। मगर यह छलना है। योगवाशिष्ठ के इन्द्रजाल के समान सावनी समां में दूरी और सामीप्य, अतीत और वर्तमान घुलमिल जाते

है। पर कोई कानों में कहता है—यही सत्य है। छलना ही सत्य है, माया ही ब्रह्म है!

धूप छिटक रही है। मसूरी ने एक संतोष की सांस ली। शायद कुछ दिन और यह श्रृंगार बच जाए।

मगर पीछे हिमालय की गगनचुम्बी चोटियां तमावृत्त, मेघाच्छन्न हो चलीं···कब तक, आखिर कब तक?

पीठ-पीछे की कला

नई दिल्ली, राज्यों से आने वाले और अपने को तीसमारखां समझने वाले, बड़े-बड़े अफसरों की अक्ल ठिकाने लगा देती है। जिले के कलक्टर की सारी अकड़ हवा हो जाती है। बड़ा साहब यानी चीफ सेक्रेटरी तक अनेकों में एक मात्र बनकर रह जाता है। छोटा मकान, घर से चपरासी गायब, नौकरों की ऐंठ,—एक मुसीबत हो तो बताएं।

मिट्टी ख्वार होने के अनेक तजुर्बों में एक है जलसों में पीछे बैठने की मजबूरी। जिले में कोई उत्सव हो तो मैं और मेरी बीवी सबसे आगे वाली कुर्सियों में बिठाए जाते थे। राज्य सरकार की सेक्रेटेरियट में भी वरिष्ठ अफसरों को आगे ही सीट मिलती। पर नई दिल्ली आते ही वे ठाठ हवा हो गए। धीरे-धीरे पीछे बैठने की आदत डालनी पड़ी और अब तो उसमें रस मिलने लगा है।

उस दिन हम दोनों को लालकिले के 'रैम्पर्ट' पर वी० आई० पी० लोगों के साथ बैठने के लिए शायद किसीकी गलतफहमी से 'पास' मिल गए, वरना हर साल तो स्वतंत्रता-दिवस का समारोह नीचे किले की खाई के सामने ही से गर्दन उठाकर देखना पड़ता था। चूंकि वी० आई० पी० लोगों के वर्ग में जगह मिली थी, इसलिए यह तो लाजिमी था कि सबसे पीछे की पंक्ति में बिठाया जाता। 'रैम्पर्ट' से पुरानी दिल्ली का दृश्य लुभावना होता है। चीलों की उड़ानों के नीचे एक तरफ जामा मस्जिद, दूसरी तरफ गुरुद्वारा, करीब में जैन मंदिर, दूर

पर चांदनी चौक की सड़क, करीब लाजपतराय मार्केट, अगणित नर-मुण्ड, अगणित सवारियां; पर ऊपर से जान पड़ता था सब मानो निश्शब्द घूम रहे थे। पुरानी दिल्ली की उमगें धुएं की तरह आहिस्ता-आहिस्ता आसमान पर छा रही थीं। स्मृतियां जागी और कल्पना कुलाचे बाधने लगी।

हठात् दृष्टि अपने सामने वाली पंक्ति पर बैठे लोगों की पीठों पर आ पड़ी। देखा, ठीक सामने किसीकी गोरी, कसी, पीठ पर गांठ लगी है, उस कली की पराग-ग्रंथि की भांति जो भ्रमर को संकेत करती हो। उसके बराबर ही में शायद उसके 'भ्रमर' की पृथुल पीठ थी। लगा जैसे भ्रमर का चंचल कर उस गांठ की ओर बढ़ेगा! ···नहीं बढ़ा! ···मेरे नेत्र गांठ पर टिक गए जैसे अर्जुन के मत्स्य की आंख पर। ···आखिर उस रमणी ने कंचुकी कसते समय ऐसी आमंत्रणपूर्ण गांठ क्यों लगाई है? ···

क्या उसके प्रियतम को 'प्रेस बटन' और 'इलैस्टिक' के युग में भी गांठ बांधना और खोलना ही अधिक रोमाण्टिक लगता है? पर पीठ की गांठ में उसके प्रियतम को भला सुविधा क्या है? सुविधा है तो पीठ पीछे बैठने वाले को? ···तो क्या यह भामिनी अपने उन रोमांटिक दिनों की याद में यह रीति बरतती है जब वह अपनी सखियों के साथ कालिज की कक्षा में आगे की सीटों पर बैठती थी और कुछ शरीर लड़के पीछे बैठकर रिमार्क कसते थे? ···क्या तभी से वह यह तमन्ना गांठ बांध लाई है कि कोई सिर्फ रिमार्क ही न कसे पर अपने चंचल करों से पीठ पर की गांठ को झट से खोल दे? शायद उसके जीवन-संगी ने उसकी यह तमन्ना पूरी नहीं की। हालांकि मजे की बात यह है कि विवाह-मंडप में गांठ बंधती ही इसलिए है कि उस रात ही से गांठें खोलने की आजादी मिल जाए। पर बिहारी ने तो कहा है कि दो प्रेमियों के मन मिले तो गांठ लगी दुर्जनों यानी रकीबों के हिये में। तो क्या इस सुंदरी का मन अपने जीवन-संगी से मिला ही नहीं है, और क्या वह पीठ पर ऐसी आतुर गांठ लगाकर उन दुर्जनों ही की नटखट अंगुलियों के लिए तरस को प्रकट करती है? ···क्या उस तन्वंगी नवोढ़ा ने पीठ की

गांठ को साड़ी के पल्ले से इसलिए नहीं ढका है कि पीछे बैठे मर्दों में कोई तो 'दुर्जन' उस पुरानी संवारी आस को पूरा करेगा ? मेरे नेत्र उस पीठ के आसपास का 'सर्वे' करने को उतावले हो उठे। सूक्ष्म चोली के ऊपर दीखी गर्दन···सुराहीदार नहीं वरन् मर्तबान जैसी भरी-पूरी ! ···तो तन्वंगी नवोढ़ा मेरी कल्पना की उपज थी ? ···थोड़ा और ऊपर दीखे···केश ! यह क्या ? ···सब मटियामेट हो गया। उस खिचड़ी में चावल अधिक थे, काली दाल कम ! "केसव केसन अस करी जस अरि हू न कराहिं।"···मेरी हिम्मत ही न हुई कि उस चेहरे को देखूं ! पूर्णिमा के दूसरे दिन सवेरे तड़के ही चांद को देखिए। चौड़ा, पर निस्तेज और धवल आनन, सूरज की चमक उसके सभी गड्ढों को, उसकी बची-खुची सफेद सपाट सतह से अलग दिखा देती है। वैसा ही रहा होगा उस पृथुला प्रौढ़ा का चेहरा, पाउडर की सफेदी के नीचे चंद झुर्रियों की दबंग रेखाएं तथा आंखों को घेरते श्यामल गह्वर, बासी मुस्कान जिन्हें और भी गहरा कर देती है।

पीछे से देखने के ये अचरज-भरे अनुभव स्त्रियां ही देती हों यही बात नहीं है। नई दुनिया में ढलती उम्र के चमत्कार पुरुष भी दिखाते हैं। उस दिन भीड़-भरी सड़क पर मोटरों की लंगार में मेरी मोटर को एक बड़ी आलीशान इम्पोर्टेड कार के पीछे रुक जाना पड़ा। शीशेवाली खिड़की में से दो सिर नज़र पड़े। एक नये फैशन के रेशमी और चारों ओर बिथुरे बालोंवाली नवेली का, जो हंसती, फड़कती, मुड़-मुड़कर न जाने क्या-क्या सरगोशियां कर रही थी। बराबर में एक पुरुष का सिर जो बीच में संगमरमर की तरह साफ और चिकना था और नाम के लिए चन्द बालों के घेरे के कारण उसकी चमक और भी बढ़ गई थी। दोनों सिर एक-दूसरे के करीब, बहुत करीब आते, छू जाते, और कभी-कभी नारी का सिर पुरुष के कन्धे पर टिक भी जाता। मुझे लगा प्रेम की भाषा सिर्फ मुखड़ों से ही नहीं पहचानी जाती; पीठ-पीछे की भी एक वाणी होती है। थोड़ी देर बाद देखा कि नारी का हाथ पुरुष के सिर पर 'सुचिक्कण मसृण' धरातल को सहलाने लगा, बड़े प्यार से। वात्स्यायन ने कामसूत्र में और आजकल के अनेक सेक्स-विशारदों ने

अपने खोजग्रन्थों में जिन अंगों को कामेच्छा का केन्द्र—इरोटिक ज़ोन—बताया है उनमें गंजी चांद का ज़िक्र नहीं मिलता। पर वाह रे रतिपति; तेरा बाण भी कहां-कहां भटक जाता है?

पीठ-पीछे की मौन वाणी के उदाहरण देखने हों तो नई दिल्ली की सड़कों पर स्कूटर पर बैठे जोड़ों को देखिए। स्कूटर इटली में पहले-पहल बने और इटली अपनी रूमानियत के लिए प्रसिद्ध है। क्या इसीलिए स्कूटर के पीछे वाली सीट ऐसे बनाई गई कि जो उसपर बैठे उसके प्रेमपाश की मजबूती की परीक्षा हो? यों इटली में बिना स्कूटर ही के प्रेमपाश में बंधे जोड़े अक्सर सड़कों पर दीखते हैं। भारतवर्ष में प्रायः प्यार इतनी प्राइवेट निधि है कि उसकी किसी प्रक्रिया को पब्लिक में जाहिर करते हम लोग सकुचाते हैं। स्कूटर की सवारी में वह संकोच दिल्ली के मध्यवर्ग और निम्नमध्यवर्ग के लोगों के बीच हटता जा रहा है।…बिना सहारा लिए कोई स्त्री पीछे वाली सीट पर स्थिर नहीं रह सकती। सहारा ही बहाना बन जाता है। हाथ कहां रखा है? क्या कमर को जकड़े हुए है? और ठोड़ी कंधे पर टिकी है? गाल गरदन से सटा है, आंखें अधमुंदी हैं, हवा से उड़ते बालों के बीच मुस्कानें झांक रही हैं? तो समझ लीजिए कि सेक्रेटेरियट के इन बाबू साहब की शादी हाल ही में हुई है और यद्यपि उनके नेत्र आगे ट्रैफिक को देख रहे हैं और हाथ हैंडिलों पर, तथापि मन की आंखें पीछे ही गड़ी हैं।…क्या हथेली पतलून को जंघा के निकट पकड़े है, बदन पीठ से सटा है, साड़ी का पल्ला मनचाही असावधानी से उड़ रहा है, तो जाहिर है कि अनुभवी नायिका को खबर लग चुकी है कि पति आफिस की लड़कियों की ओर ताक-झांक करने लगा है और इसलिए उसकी आदिमपुरुष वृत्ति को थोड़ा-बहुत उकसाते रहने की जरूरत है ताकि वह घर के बेडरूम को आफिस की झांकियों से अधिक उत्तेजक समझे।…क्या एक हाथ कंधे को पकड़े है और दूसरा मुलायम कपड़ों में दुबके शावक-से शिशु को संभाले है, नयनों में विश्वास, मुखड़े पर तृप्ति की मधुरिमा है? तो समझ लीजिए प्रेमपाश की गांठ नवेली गृहिणी की गोद में भार नहीं, उसे स्थिरता प्रदान कर रही है; और

इसलिए वह निश्चिन्त है।

मतलब यह कि सेक्रेटेरियट की फाइलों, गपबाज़ी और ओवर-टाइम की बोरियत के दरम्यान जो भागवान स्कूटर का पर्मिट पा लेता है उसे पीठ-पीछे का वह रोमांस नसीब होता है जो प्रोमोशन की दौड़ में पीछे रह जाने के गम को भी पछाड़ दे।

पीछे बैठने वाले को खास ढंग की ओट मिलती है जिसके कारण मन निर्द्वंद्व हो जाता है; उत्तरदायित्व के बंधन कम हो जाते हैं। इसीलिए किसी लेक्चर में आगे बैठनेवाले श्रोता के लिए एकाग्रचित्त होना और मौन धारण करना ज़रूरी है। पर पीछे बैठनेवाले की कल्पना सजग हो जाती है, फबतियां कसने को मन चाहता है, दूर से किसी सरोवर में कंकड़ फेंककर पानी में फैलती लहरियां पेड़ की आड़ में से देखने का लुत्फ मिलता है। पीछे बैठनेवालों की हाज़िरजवाबी राजनीतिक बहसों को भी मुलायम और मज़ेदार बना सकती है। पर आजकल तो वैसी हाज़िरजवाबी आउट आव डेट हो चली है। आज-कल तो दलीलों का जवाब खड्गहस्त होकर देने की बान बढ़ती जा रही है। इंगलैण्ड के हाइड पार्क में हर तरह के प्रचारक को आज़ादी है कि स्टूल या टेबिल पर खड़े होकर ज़ोरों के साथ अपना संदेश सुनाए। जितना ही आवेश कोई वक्ता दिखाता है, उतना ही खतरा भी मोल लेता है, क्योंकि दर्शकों में पीछे बैठने या खड़े होने वाले सामान्य अंग्रेज़ लाजवाब फिकरे कसने में कुशल होते हैं। हाइड पार्क के ये चुटकुले बहुत प्रसिद्ध हैं। एक ज़माने में हमारे विश्वविद्यालयों की सभाओं में और हमारी विधानसभाओं में भी 'बैकबेंचरों' या पीछे बैठनेवालों की यह कला विकसित थी। सन् १९३५ की बात है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विजयानगरम् हाल में कुछ आमंत्रित सज्जन एक विषय पर विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए भाषण दे रहे थे। एक सम्भ्रांत सज्जन बोलते-बोलते रुक गए। विचारधारा टूट गई; शायद खो-से गए। हाल में इंतज़ारी की चुप्पी हो गई। सहसा पीछे से कोई बोला, "मैं बताऊं साहब?" सारा दर्शक-समूह हंसी में डूब गया।

संसद् और विधानसभाओं में पीछे बैठने वालों को तीन तरह की कलाएं सीखनी चाहिएं। एक तो 'कोलाहल कला', दूसरी 'हां-नां' विद्या और तीसरी 'खुर्राट योग'। जब दूसरे पक्ष का कोई योग्य वक्ता अपनी पार्टी के नेता की बात का तर्क और दलील द्वारा काट करे और जब बाजी हाथ से जाती-सी जान पड़े तब बैंकबेंचरों का कर्त्तव्य है कि बानर सेना की भांति कोलाहल और तू-तू, मैं-मैं का ऐसा वातावरण पैदा करें कि स्पीकर महोदय को सभा बर्खास्त करनी पड़े। 'हा-ना' विद्या वस्तुतः जन्मजात होती है। लेकिन पार्लमेंट मे 'हां' या 'ना' कहने के लिए कुछ होशियारी बरतनी चाहिए। स्पीकर जब पूछे कि जो इस प्रस्ताव के पक्ष में हों वे 'हा' कहें, तब होशियार बैंकबेंचर विरोधी पक्ष पर बैठे हुए सदस्यों के होंठों को ध्यान से देखे और कान लगाए रहे। यदि वे लोग 'हा' कहते हैं तो अगली बार 'ना' कहे। यदि वे चुप रहें तो झट से 'हां' बोले। बैंकबेंचर के लिए जोर से 'हा' या 'ना' कहना इसलिए जरूरी है कि आगे की बेंचों पर बैठनेवाले प्रायः हल्के स्वर में ही गुनगुनाते हैं। फिर, यही तो मौका है पीछे बैठनेवाले को अपनी हैसियत, अपनी महत्ता, अपने अस्तित्व को घोषित करने का।...'खुर्राट योग' का अभ्यास श्वान और दादुर के अनुकरण पर हो सकता है। श्वान मौका पाते ही सो जाता है; बैंकबेंचर भी प्रश्नोत्तर की अवधि (क्वेश्चन आवर) के बाद बिना किसी उपक्रम के आंख बन्द कर निद्रालीन होता है। जरा-सी आहट पाते ही श्वान चौकन्ना होकर झट से भौंकने लगता है। बैंकबेंचर को भी सचेतक (ह्विप) का संकेत या वाद-विवाद की तेज़ी को पहचानने की सहज-बुद्धि होनी चाहिए और झट से बेबात की बकवास शुरू कर देनी चाहिए। दादुर बरसात की बूंदों के पुष्करिणी पर पड़ने का स्वर सुनते ही अपनी टेर लगा देता है; सदन में कोई भी लम्बा भाषण बैंकबेंचर की नाक बजने का सिगनल होना चाहिए। खुर्राटे भरनेवाला बैंकबेंचर सदन के 'एकूस्टिक' (ध्वनि-संतुलन) का हमेशा ध्यान रखता है।

पीछे रहने वाले लोगों को जब आगे बढ़ने की महत्वाकांक्षा सताती है तो वे किसी बड़े व्यक्ति के पीछे लग जाते है। ये पिछलगे

उन्नतिशील समाज की पहचान है। गांधी जी के ज़माने मे हमारा देश उन्नतिशील (डिवेलपिंग) नही वरन् महज़ पिछड़ा हुआ (बैकवर्ड) था। इसीलिए गांधी जी के पीछे चलने वाले लोग उनके पीछे ही चलते रहे। उन्होने पीछे लगने की कला नही सीखी। इसलिए पिछड़े ही रहे! अब ज़माना दूसरा है। काफी लोगो ने पीछे लगकर छलांगें मारी है। असल में पिछलगा पीछे लगते समय हमेशा पीछे ही दीखे, ऐसी बात नही। अक्सर वह आगे से भी वार करता है। आगे से काबू पाने के भी अनेक तरीके मैंने देखे है। जिस बड़े व्यक्ति से अपनी उन्नति के लिए मतलब साधना हो, उसके घर के निरुद्देश्य चक्कर लगाना आवश्यक है। पिछलगा अपना मतलब तुरन्त जाहिर नही करता। घुमा-फिराकर अपनी बात कहने की कला का प्रयोग करता है। पिछलगा अविचल भाव से झिड़कियां सहता है। "बुद अघात सहहिं गिरि जैसे।"

पीठ और मौत दो ऐसे पर्दे है जिनके पीछे चर्चा करना आदमी का दस्तूर रहा है। पर मौत के पीछे की चर्चा में दिवंगत व्यक्ति के गुणानुवाद को श्राद्ध का एक अंग माना गया है। आजकल किसी जाने-माने व्यक्ति की मृत्यु पर यह श्राद्ध प्रेस में वक्तव्य देकर दिया जाता है या दिवंगत के परिवार को ऐसा तार या पत्र भेजकर जो तुरन्त ही समाचारपत्रों में प्रकाशित किया जा सके। पीठ-पीछे की चर्चा के बारे में कई तरह की रायें शास्त्रों और वर्तमान नीतिकारों ने दी हैं। अधिकतर लोग इसे हेय कर्म मानते हैं। पिशुन, चुगलीखोर, 'बैकबाइटर'—ऐसे अनेक विशेषणों से पीठ-पीछे चर्चा करने वाले को विभूषित किया जाता है। पर वस्तुतः पीठ-पीछे की चर्चा सामाजिक व्यवहार की गाड़ी के लिए 'मोबिल आयल' है। अगर यह न हो तो मोटर के पुर्जे गरम होकर टूक-टूक हो सकते है। हमारे मन की घुटन, हमारी कुण्ठाएं, छोटी-छोटी बातो मे हमारा आक्रोश—सबकी भड़ास निकालने का बड़ा आसान और अहिंसक साधन है पीठ-पीछे की चर्चा। वस्तुतः चुगलखोर बड़ा अहिंसक जीव होता है; हाथ उठाने और हथियार चलाने की दुर्दान्त कामना का उसके व्यक्तित्व में उदात्ती-

करण—सब्लिमेशन—हो जाता है।

यह अलग बात है कि पीठ-पीछे बुराई करने वाले का प्रहार हथियारों से भी अधिक घातक हो। इस दुनिया में बातों के प्रहार सहने के लिए विशेष जिरह-बख्तर के बिना जिंदगी बसर करने की आशा नादानी है। जिरह-बख्तर दो तरह के होते हैं। संतों का जिरह-बख्तर है बुराई करने वाले को अपना हितैषी मानना। किसीने उसे अपने दोषों का मार्जन करने वाला साबुन माना है, कोई-कोई तो बुराई करने वालों को बराबर पास रखना चाहते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने तो 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ ही में बड़े आदर के साथ असंतों की वंदना की है और उनके उपकारों का वर्णन किया है। पर गुसाईं जी हमेशा ही इस जिरह-बख्तर को ओढ़ न सके। इसीलिए कई बार आहत होकर बेबसी की वाणी में फट पड़े या गुस्से में आकर एकाध ऐसा बाण छोड़ गए जो आज तक साधारण लोगों के काम आता है, जैसे—"महिमा मृगी कौन सुकृती की, खल वच विस न बिंधी।"

इस उक्ति में एक छिपी हुई चुनौती है जो वस्तुतः दूसरी तरह का बख्तर है। पीठ-पीछे मेरी बुराई, मेरे दोषों की प्रशस्ति, मेरा आभूषण है;—यही धारणा मन को वह चुनौती प्रदान करती है जो एक तरह का अभेद्य बख्तर है। जैसे योद्धा के लिए जख्म उसकी वीरता घोषित करते हैं, और नायिका के शरीर पर नख-दंत चिह्न उसके सौंदर्य और रतिकौशल को, ऐसे ही अपने दोषों की चर्चा मनुष्य के पुरुषार्थ को, उसकी जिजीविषा को। इसीलिए तो एक संस्कृत भाण (पादताड़ितकम्) में यह लाजवाब उक्ति मिलती है—

> यस्यामित्रा न बहवो यस्मान्नोद्विजते जनः।
> यं समेत्य न निन्दन्ति स पार्थ पुरुषाधमः।

(जिसके बहुत-से वैरी नहीं हैं, जिससे लोग डरते नहीं हैं, इकट्ठे होकर लोग जिसकी निंदा न करते हों, वह पुरुष नहीं पुरुषाधम है।)

वस्तुतः पीछे रहना, पीछे लगना, पीछे पड़ना और पीठ-पीछे बोलना—चारों ही का पीठ से सम्बन्ध है और चारों ही हमारे अंतः-

करण में मौजूद हैं; मौके-बेमौके प्रकट हो जाते हैं। हमारे अन्दर जो फिसड्डी है वह पीछे रह जाता है, जो चाटुकार है वह पीछे लगता है, जो ज़िद्दी है वह पीछे पड़ता है, जो कायर है वह पीठ-पीछे बकता है। और जैसे वैष्णव भक्त अपने पंचदोषों के मुकाबले भगवान के पंच-ऐश्वरों की कल्पना करता है ऐसे ही हमारे अंतस् ही में इन चार मूर्तियों के समतुल्य चार वीर भी विद्यमान है जो चेष्टा करने पर जाहिर हो सकते हैं। हम ही तो सतोषी होकर पीछे रहने में शांति पा सकते है; जिज्ञासु बनकर ज्ञानी के पीछे लग सकते है; पुरुषार्थी के रूप में लक्ष्य के पीछे पड़ सकते है, उदारवृत्त बनकर पीठ-पीछे अपने प्रतिद्वन्द्वी की भी तारीफ कर सकते है।

वे साढ़े तीन दिन

खाना खत्म हुआ और विदेश चर्चा का तांता पुनः चल निकला। मां खाने की मेज़ को साफ कराने लगी। पापा ने चमचमाता हुआ सिक्का मेज़ पर रख दिया।

"डालर है! पर यहां किस काम का?" मंझला लड़का बोला।

दूसरे ने छूने की कोशिश की ही थी कि सबसे छोटे ने उसे उठा ही लिया और बोला, "कैनेडी की मूर्ति है।···आपने अमेरिका में कैनेडी को कहां देखा, पापा?"

"कहीं नहीं!"

"अरे!"

मां प्लेट उठाते हुए बोली, "हार्वर्ड के करीब बोस्टन के शेरेटन प्लाज़ा होटल में एक दिन तो लगा कि···"

"कि कैनेडी से मुठभेड़ ही हो जाएगी! पर महज़ एक दिन की देर हो गई," पापा ने बात काटी।

"कोई उन्हें देखने हम थोड़े ही गए थे। एक मित्र से मिलने गए थे। बाहर भीड़ थी और किसीने कह दिया कि प्रेज़िडेंट आए हैं। पर निकले किसी और देश के प्रेज़िडेंट जो अमेरिका में घूम रहे थे। कैनेडी एक रोज़ पहले आए थे और वाशिंगटन वापस चले गए थे।

"पर कैनेडी को बोस्टन में देखना कुछ मुश्किल न था। अक्सर आना-जाना लगा रहता था। कैनेडी तो बोस्टन के बेटे थे।"

"ऐसे ही जैसे जवाहरलाल इलाहाबाद के," लड़की ने कहा।

"उससे भी अधिक !" पापा बोले, "जवाहरलाल इलाहाबाद विश्वविद्यालय में थोड़े ही पढ़े थे। पर कैनेडी हार्वर्ड विश्वविद्यालय के छात्र थे;—उनके व्यक्तित्व पर गहरी छाप थी वहां की परम्पराओं की, वहा के विद्वत्तापूर्ण निर्भीक वातावरण की।"

"हार्वर्ड विश्वविद्यालय में तुम्हारे विभाग के तो किसी प्रोफेसर ने कैनेडी को पढ़ाया भी था !" मां ने याद दिलाई।

"ठीक याद नही। शायद प्रोफेसर इमर्सन ने पढ़ाया हो। पर गाल्ब्रेथ, जो भारत मे राजदूत रह चुके थे, कैनेडी के छात्र-जीवन मे अर्थशास्त्र के अध्यापक और गवेषक के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। कैनेडी ने प्रेज़िडेंट हो जाने पर उन्हे और हार्वर्ड के अन्य कई विद्वानों को अपने शासन में महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया और अपना सलाहकार बनाया। व्हाइट हाउस मे हार्वर्ड के मनीषियों की तूती बोलने लगी। बल्कि अन्य विश्वविद्यालयों में इस बात का इशारा करके ताने भी कसे जाते थे। एक दिन की बात है…"

कथा का वातावरण बन चुका था। सब लोग पापा के करीब दत्तचित्त होकर बैठ गए।

"एक दिन की बात है। हार्वर्ड के समकक्षी (और बराबरी का दावा करनेवाले) येल विश्वविद्यालय के विद्वान प्रोफेसर बैगहूर्न हार्वर्ड के हमारे विभाग के अध्ययन-मंडल में अपने रूस के अनुभव सुनाने आए।"

"वही न, जिन्हे रूसी सरकार ने कुछ दिनो के लिए नजरबंद कर लिया था ?"—बडे लड़के को याद आया।

"हा, वही। अनुसंधान करने रूस गए और उसी सिलसिले में वहां के नागरिकों से प्रश्न पूछ रहे थे कि जासूस होने के संदेह मे गिरफ्तार कर लिए गए। येल विश्वविद्यालय के कुलपति के पास समाचार पहुचा तो अपने यहा के एक विद्वान प्रोफेसर पर विदेश मे संकट आया देखकर उन्होने प्रेज़िडेंट कैनेडी को टेलीफोन किया। कहा जाता है कि कैनेडी ने ढाढ़स बंधाते हुए उत्तर दिया, 'चिन्ता न कीजिए। प्रोफेसर

बैगहूर्न के बारे में वैसी ही सावधानी बरती जाएगी जैसी हार्वर्ड के किसी प्रोफेसर के विषय में बरती जाती।'···बाद में कैनेडी के व्यक्तिगत अनुरोध पर ख़ु श्चेव ने प्रोफेसर बैगहूर्न को रिहा कर दिया।·· हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अक्सर कैनेडी की चर्चा रहती, टीका-टिप्पणी भी होती, लेकिन सब कुछ स्नेहसिक्त वाणी में। हमारे विभाग में कई लोग उनकी नीति के विरोधी थे। अमेरिकन फौज का एक कर्नल कुज़िग मेरे ही कमरे में बैठता था और मेरी ही भांति स्वाध्याय के लिए आया था। हार्वर्ड का ग्रेजुएट रह चुका था। पर दक्षिणी राज्य टैक्सस का निवासी था जहां कैनेडी की उदार नीति का सख्त विरोध था। कुज़िग से मेरा अमेरिका की विदेश नीति पर अक्सर विवाद चलता। वह कैनेडी पर इसलिए नाराज़ रहता कि रूस के प्रति अमेरिका के शत्रु-भाव को कैनेडी धीरे-धीरे बदलना चाहते थे।···पर उस दिन कुज़िग के चेहरे पर नाराज़ी नहीं थी।"

कुछ ऐसे भावाविष्ट स्वर में ये दो शब्द 'उस दिन' पापा के मुंह से निकले कि बरबस कई आवाज़ें उठीं—

"कौन-से दिन?"

"२२ नवंबर, १९६३।"

बाईस नवंबर का नाम सुनकर छोटा लड़का, जो पलंग की ओर जा रहा था, लौट आया। रात के सन्नाटे में मानो दूर जाती हुई स्वर-लहरी को छूते हुए मा बोलीं, "उस दिन शुक्रवार था। मुझे प्रौढ़ शिक्षा की क्लास में नहीं जाना था। घर ही रहना था। पर तुम लंच पर नहीं आ सके थे।"

"हां, उस दिन लंच पर ही हम लोगों के अध्ययन-मंडल की कार्य-वाही हुई। मुख्य अतिथि थे जापान के विश्वविख्यात पत्र 'जापान टाइम्स' के प्रमुख श्री फूकीशिमा जो न्यूयार्क में विश्व राष्ट्रमंडल में जापानी डेलिगेशन के प्रधान हैं और खास तौर से उस दिन की सेमिनार के लिए हार्वर्ड आए थे। लंच दोपहर के साढ़े बारह बजे शुरू हुआ और उसी दौरान श्री फूकीशिमा ने जापान की राजनीतिक परिस्थिति पर बीस मिनट में प्रकाश डाला। उसके बाद जैसी वहां की

पद्धति है, वक्तृता समाप्त होने पर प्रश्नोत्तर का दौर चला। सो फूकीशिमा हम लोगों के प्रश्नों के उत्तर दे रहे थे और विचार-विनिमय जोरों पर था कि मिसेज पामर दबे पांव कमरे में आई और उसने कागज की चिट हमारे विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर वुड के हाथ में दे दी।"

"मिसेज पामर वही न, तुम्हारे विभाग के दफ्तर की इंचार्ज, जो एक दिन हमारे यहां खाने पर आई थी? हंसमुख चेहरा था उसका।"

"हां, पर उस चिट को पकड़ते समय उसके चेहरे पर चिंता की रेखाएं उमड़ी हुई थीं। प्रोफेसर वुड ने चिट को पढ़ा और मैंने देखा कि उनके माथे पर अविश्वास-सूचक बल पड़ गया। मिसेज पामर को चले जाने का संकेत देकर उन्होंने चिट अपने सहयोगी ब्राउन को पकड़ाई और उन्होंने एक अन्य व्यक्ति को। दोनों के चेहरों की मुद्रा देखकर मैं उलझन में पड़ गया, और शायद अन्य लोग भी। किन्तु अध्ययन-मंडल की कार्यवाही जारी थी। प्रश्न पूछे जा रहे थे और बहस में गरमी थी। मिसेज पामर दुबारा आई और उसने एक और चिट प्रोफेसर वुड को पकड़ाई। वुड की भृकुटि तो तनी ही थी, उनका सारा चेहरा खिंच-सा गया। चिट तीन और व्यक्तियों तक पहुंची, पढ़नेवालों के मुख खुले के खुले रह गए।···मैं अनुमान करने लगा कि शायद किसी वृद्ध प्रोफेसर की हृदय-गति रुक गई, अथवा कोई कर्मचारी आहत हो गया।···किन्तु फूकीशिमा अपनी अटकती अंग्रेजी में प्रश्नों का उत्तर दे रहे थे। सेमिनार की गतिविधि में कोई बाधा नहीं आई। प्रोफेसर वुड ने संयत होकर मुख्य अतिथि का धन्यवाद किया और पूर्वनिर्धारित समय पर ही अध्ययन-मंडल की कार्यवाही समाप्त हुई।

"कमरे के बाहर कदम रखते ही सुना—कैनेडी को डैलस नगर में शूट कर दिया गया।···हालत नाजुक है, अस्पताल ले जाए गए हैं,···अभी जीवित है।

"हॉल में कुछ लोग चिंतित मुद्रा में बातें कर रहे थे। मैं अपने कमरे में गया। कुंजिग टैलीफोन से फौजी अधिकारियों से पूछताछ की

चेष्टा कर रहा था। हमारी मंज़िल पर दो ही टेलीफोन थे और दोनों पर लोग बात कर रहे थे।"

"तुमने मुझे तो तब टेलीफोन किया जब कि तुम्हें उनकी मृत्यु का समाचार मिल चुका था।"

"हां, दस मिनट बाद ही खबर आई कि कैनेडी के प्राणपखेरू उड़ गए। डेविडमार्क, जो मेरे सहयोगियों में सबसे अधिक संवेदनशील था, आहत-सा अपनी कुर्सी में बैठा कह रहा था, 'अब चाहे कोई भी प्रेज़िडेंट हो, वह बात तो होगी नहीं। वह जो कैनेडी का 'स्टाइल', उसकी भंगिमा—वह तो गई हमेशा के लिए।'

"कैनेडी-स्टाइल! मेरे मन में कई प्रश्न उठे, कई शंकाएं। अपने कमरे में लौटा और कुज़िग की प्रतीक्षा करने लगा। पास की जमीन पर एक नये विभाग के लिए अट्टालिका बन रही थी। दानवाकार मशीनें बड़ी-बड़ी शहतीरों को उठाकर अकेले मजदूर के इशारे पर पांच मंज़िल ऊपर रखती जा रही थीं। लेकिन उस घर्र-घर्र के परे, और लड़कियों के टाइपराइटरों से निकलते हुए 'टप-टप' को भेदता हुआ एक और स्वर कानों में पड़ने लगा। टन, टन, टन। हार्वर्ड मेमोरियल चर्च का घंटा हार्वर्ड के एक पुत्ररत्न की ऊर्ध्वगामिनी पुण्यात्मा का मानो गगनमंडल में पीछा कर रहा था। शोक-सूचक घंटा थोड़ा रुक-रुककर बजाया जाता है। पूरे तीसरे पहर वह स्वर हार्वर्ड के विद्यालयों के शिखरों का स्पर्श करके व्याप्त होता रहा।...आवाजें थी या नहीं, इसका भान कम होता गया और मुझे लगा मानो एक सिहरन-भरी शांति कुंडली मारकर बैठ गई है।"

मां ने पापा की भावुकतापूर्ण अभिव्यक्ति पर रोक लगाई—

"तुम समय से पहले घर आ गए थे।"

"हां। काम तो थोड़ा-बहुत विभाग में चलता ही रहा, पर वह घुटन मेरे लिए दुर्वह हो चली। चलने से पहले अपनी शंका किसीको बताना चाहता था। कुंज़िग टेलीफोन करके लौटा और बोला, 'मैं जानता हूं कि टैक्सस में कैनेडी की नीति का बहुत विरोध है, पर ऐसी शर्मनाक और नीच हरकत टैक्सस-निवासियों का सिर नीचा

करेगी। अभी तक पुलिस हत्यारे को गिरफ्तार नहीं कर पाई है। उसका निशाना सधा हुआ था। पांचवी मंज़िल से चलती गाड़ी में शूट किया। शायद खास ढंग की बंदूक का इस्तेमाल हुआ है।··· १९०० के बाद यह पहली बार एक प्रेज़िडेन्ट की हत्या हुई है।'

"मैंने कहा, 'कुंजिग, इस वज्रपात ने मेरे विचार-सागर में दो भंवरें पैदा की हैं।···अप्रिय न लगे तो कह दूं!'

"हम लोगों की बहसें अक्सर होती रहती थी। इसलिए कुंजिग को उस दूभर घड़ी में भी मेरी बात पर एतराज़ क्यों होता? मैंने कहा, 'इस नृशंस हत्या का भूमंडल के पिछड़े कहलानेवाले देशों पर क्या असर होगा, यह मैं सोच रहा हूं। बर्मा, लंका, इराक, कांगो, पाकिस्तान एवं अन्य देशों में जो हत्याएं हुईं उनके पीछे राजनीतिक साज़िश थी। अमेरिका में जो हत्या हुई, व्यक्तिगत पागलपन के कारण। लेकिन एशिया, अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका की करोड़ों जनता क्या राजनीतिक साज़िश और व्यक्तिगत पागलपन में बारीक अंतर को चीन्ह सकेगी? अमेरिका विश्व का पुराना और परिपक्व प्रजातंत्र राज्य है। जो देश हाल ही में स्वाधीन हुए हैं और प्रजातंत्र के प्रयोग कर रहे हैं, वहां हिंसा और हत्या का इस्तेमाल करनेवालों को बढ़ावा मिलेगा--आज के इस नृशंस कांड से। विएतनाम···'

"विएतनाम की बात सुनकर कुंजिग ने कहा, 'हो सकता है इस कांड में मैडम न्हु का हाथ हो।' मुझे लगा कि कुंजिग मैडम न्हु का नाम लेकर वस्तुस्थिति की संजीदगी को टालना चाहता है। मैंने अपनी दूसरी चिंता प्रकट की, 'अमेरिका में---व्यक्तिगत स्तर पर ही सही---हिंसा और हत्या के लिए अवसर बहुत मिलते हैं, उनपर प्रतिबंध कम है। कैनेडी की हत्या के तीन सप्ताह ही पहले मैंने अखबारों में पढ़ा था कि अमेरिका के ४१ राज्यों में तो बन्दूक इत्यादि हथियारों के लिए किसी तरह के लाइसेंस लेने की जरूरत ही नहीं है, और तमाशा यह है कि आप डाक से बंदूक खरीदें तो उन राज्यों में जहां लाइसेंस लागू है, आपको लाइसेंस लेने की जरूरत नहीं पड़ेगी। सेनेट की एक सब-कमेटी ने किशोरों द्वारा किए गए अपराधों की जांच के सिलसिले में

हज़ारों ऐसे हथियारों को एकत्र किया जो डाक द्वारा खरीदे गए थे। क्या मालूम कैनेडी के हत्यारे ने भी इस तरह की बंदूक मंगाई हो।' "

"पापा, वही तो हुआ था। आपको नहीं मालूम कि···"

"बाद में मालूम हुआ। पर उस वक्त कुज़िग से मैंने यही पूछा कि आखिर अपराध करने के लिए इस तरह की छूट इतने प्रगतिशील समाज में क्यों दी गई है—नागरिक स्वतंत्रता के नाम पर ? मैंने देखा कि कुज़िग सोच में पड़ गया। उसने उत्तर में सिर्फ इतना कहा, 'देश दुरवस्था में है।' "

पापा की इस बात को सुनकर लड़की बोली, "यानी कि हर देश में लोग अपने यहां की दुरवस्था का रोना रोते हैं!"

"उस वक्त तो ऐसा ही जान पड़ता था कि अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश की पोशाक में भी अनेक पैबंद हैं। हम दोनों ने बैग उठाए और विभाग से बाहर निकलकर अपनी-अपनी राह ली। उस उखड़ी-उखड़ी-सी सांझ में घर जाते समय मैं सोच रहा था कि कैनेडी की हत्या की घड़ी अमेरिका के लिए विषमताओं के जमघट की घड़ी है। जिन देशों को ये लोग आर्थिक सहायता देते हैं उनमें से कई इन्हें ही अंगूठा दिखाते हैं। इनकी विधानसभा (कांग्रेस) ने साढ़े चार महीने से बजट ही नहीं पास किया है। विएतनाम की परिस्थिति दलदल की तरह हो गई है। सिविल राइट बिल, जिसके अनुसार नीग्रो नागरिकों को समानाधिकार मिलना है, अटका पड़ा है। टैक्स कम करना चाहते हैं तो उसमें भी अड़चन है।···यहां की पुलिस भी जान पड़ता है कि अपने प्रेज़िडेंट की सुरक्षा का इंतज़ाम करना भूल गई है।"

मां ने एक शोशा छोड़ा, "हां, उस वक्त जब ये घर आए तो ऐसे मूड में थे कि अमेरिका क्या सारे दुनिया की बुनियादी समस्याओं की उलझनें इन्हींका सरदर्द हैं। उस दिन इन्होंने अपनी डायरी में जो लिखा उसकी चार-पांच सतरें सुनाती हूं।"

डायरी निकालकर मां ने पढ़ा, 'कैनेडी की उमर ही क्या थी ? —मुश्किल से ४६ वर्ष। मैं जिस स्थान पर बैठा हूं वहां से दो या तीन मील दूर पर ब्रुकलाइन (बोस्टन) में वह बंगला है जहां उसका जन्म

हुआ था। एक प्राणवान ज्योति बुझ गई। कितने आश्चर्य की बात है कि सभ्यता के ऊंचे और सर्वव्यापी घेरों के अंदर भी मानव की कुछ आदिम प्रवृत्तियां उमड़ उठती हैं ? सभ्यता का तकाजा है कि गुस्से से भरपूर वचन मुह से निकालने पर भी गुस्सेवाला काम न कर बैठो। गुस्से-भरा वचन और गुस्से-भरा कर्म--कितनी बारीक, कितनी नन्ही है वह रेखा जो आदिम, वहशी व्यवहार को सभ्य व्यवहार से अलग करती है ! ···क्या इस देश पर इस दुर्दम कांड का असर पड़ेगा? शायद पड़े। पर क्या मालूम ? हम लोग भी गांधी जी की मृत्यु के बाद थोड़े दिन भावावेश में बहे और फिर उन्हें भूल ही तो गए।

बड़े लड़के ने कहा, "गांधी जी की हत्या की याद तो उन दिनों कई लोगों ने की होगी, पापा ?"

"हां, उसी दिन रात को जब हम बोस्टन में···"

मां ने टोका, "लेकिन बोस्टन जाने से पहले तो तुम, सहगल, मेहता और पुरी अपनी स्ट्रीट के किनारे खड़े होकर शायद घंटे-भर बात करते रहे थे और ट्रांज़िस्टर रेडियो पर हालात सुनते रहे थे। बात यह हुई कि हम लोगों के भारतीय मित्र सहगल और उनकी पत्नी ने उसी दिन रात को दावत कर रखी थी। कैनेडी की हत्या की खबर मिलने पर उन्होंने सोचा कि उनके एपार्टमेंट के पास जो अमेरिकन कुटुम्ब रहता था, उसे अपने पड़ोस में दावत होना अखरे ! सो उन्होंने दावत कैंसिल कर दी और सब लोग हमारे घर आ पहुंचे। अमेरिकन कुटुम्ब की भावनाओं के बारे में उनका ख्याल गलत था, क्योंकि उसके तीसरे दिन हम लोगों का निमंत्रण···"

"अब तुम छलांग मारने लगीं," पापा ने कहा। "पहले उसी सांझ की बात तो पूरी कर लेने दो। हम लोग स्ट्रीट के किनारे खड़े होकर उसी तरह बातचीत में मशगूल थे जैसे भारतवर्ष में होते। पर इस तरह के और गुट हमने सड़क पर नहीं देखे। लोग आ-जा रहे थे, कोलाहल बहुत कम था। घंटा बजना बंद था। कई दफ्तर जल्दी बंद हो गए। हम लोग अपनी स्ट्रीट से हार्वर्ड स्क्वायर चले जो विश्वविद्यालय से सटा हुआ बाज़ार है; वहीं से अंडरग्राउंड ट्रेन से नदी के उस पार

मुश्किल से १० मिनट में बोस्टन पहुंचने का रास्ता था। हार्वर्ड स्क्वायर का केन्द्र है एक छोटी अखबारों और पुस्तकों की दुकान। भीड़ थी। लोग तेज़ी से अखबार खरीद रहे थे। पर अखबार वाले चिल्ला नहीं रहे थे। बसें रुकतीं, लोग उतरते-चढ़ते, पर शोरगुल नहीं था। दबी आवाज में लोग बातें कर रहे थे। अन्य मित्र तो वहीं रह गए। हम दोनों अंडरग्राउंड ट्रेन से बोस्टन के केन्द्र (बोस्टन कामन) के लिए रवाना हुए। उस रात बोस्टन कामन में किसी उत्सव के सिलसिले में रोशनी का प्रदर्शन होनेवाला था। अब उसके स्थान पर प्रमुख चर्च में आराधना हो रही थी जिसमें राज्य के गवर्नर, नगर के मेयर इत्यादि शामिल थे। जो दस मिनट ट्रेन में गुज़रे, वह भी हमारे लिए एक विचित्र अनुभव था। रेल के डिब्बे भरे थे, पर यदि पहियों की ध्वनि न होती तो सन्नाटा होता। मैं सोच रहा था कि आखिर ये लोग एक-दूसरे से बातें क्यों नहीं करते? इनकी भावनाओं पर जो गहरी चोट पहुंची है, क्या ये लोग उसको भुलाना चाहते है? देखा कि डिब्बे की दोनों बेंचों के आगे मानो अखबारों के पर्दे टंग गए जिनके पीछे शोकातुर मुखड़े—बोस्टन के साधारण नर-नारियों के चिंतामग्न चेहरे—अपने-अपने आंसुओं के ज्वार को रोक रहे थे। क्या ये लोग अपने ही से बचना चाहते है, अपनी संतप्त अंतरात्मा के उच्छ्वासों से? क्या बाहरी सन्नाटा हृदय के कोलाहल की विपरीत लक्षणा थी? क्या समाचारपत्र पढ़कर दुःख-भरी और सांत्वना-याचक बातचीत की उस इच्छा को पूरा करना चाहते थे जिसे इन्होंने बरबस दबा रखा था? वही घुटन जिसका दबाव मैंने अपने विभाग में महसूस किया था, रेल के डिब्बे में भी चक्कर काट रही थी।"

पापा कुछ रुक गए। मा ने कथा का सूत्र जारी रखा—

"लेकिन स्टेशन की सीढ़ियां चढ़कर जब हम बोस्टन कामन पर पहुंचे तो खुली हवा में कुछ हलचल के आसार दीखे। रोशनी मंद थी। पर चर्च के सामने वाली सीढ़ियों से काली शोक-सूचक पोशाक पहने कुछ लोग उतर रहे थे। सरकारी मोटर का दरवाज़ा वर्दी पहने अरदली ने खोला। मालूम हुआ, चर्च की सर्विस समाप्त हो गई और गवर्नर लौट

रहे थे। हमें देर हो गई। हम लोग एक तरफ खड़े होकर जानेवालों को देखने लगे। और तब···"

"और तब···" पापा ने नाटकीय ढंग से मां के मुंह से बात छीनी, "और तब एक अधेड़ उम्र की अमेरिकन स्त्री चर्च से उतरकर हम लोगों की तरफ आई। शायद उसने इनकी साड़ी और माथे पर बिन्दी देखकर यह अंदाज़ लगा लिया कि हम भारतीय हैं। काली पोशाक, चेहरे पर चश्मा, बोस्टन की सामान्य प्रौढ़ा नारी। कोई विशिष्टता नहीं थी उसके व्यक्तित्व में। क्यों वह अपरिचित औरत हमारे पास आकर चुपचाप खड़ी हो गई, यह हम समझने की चेष्टा कर रहे थे कि वह स्त्री हठात् बिलख-बिलखकर रोने लगी। हम लोग हक्के-बक्के रह गए। अमित व्यथा का भार हल्का करते हुए उस महिला ने जहां हमारी वाणी छीन ली, वहां एक झंझावात की भांति उस घुटन को भी गायब कर दिया जो तब तक हमपर छाई हुई थी। उस रुदन मे पाश्चात्य आचार के प्रतिबन्धों के नीचे वह स्वर था जो हमारे यहां तो तनिक छूने-मात्र से बज उठता है। हमें अपनापे का अनुभव हुआ।"

"मैं तो उसे ढाढस बंधाने के लिए ठीक शब्दों की तलाश में थी," मा ने कहा, "पर स्वयं मेरा ही गला भर आया उसे देखकर।"

"धीरे-धीरे वह बोलने की अवस्था में आई और पहली बात उसने यही कही, 'तुम्हें···गांधी···की हत्या की···याद आई होगी···। ···पर···पर तुम्हारा देश उतना वहशी नहीं है जितना यह अमेरिका। मैंने कैनेडी को दूर से ही देखा, पर एक बार, हां, एक बार मैंने उससे हाथ भी मिलाया था ··यह हाथ।···मैं एक दफ्तर में काम करती हूं। इलेक्शन के दिनों औरों के साथ मैंने भी कैनेडी के लिए प्रचार में काम किया। मेरी जैसी बीसियों औरतें उसके लिए काम कर रही थीं। इलेक्शन के बाद वह आया और हरेक से उसने हाथ मिलाया।··· कितना निश्छल था कैनेडी, मानवता से परिपूर्ण, दयालु। और देखो, अपने बच्चों को कितना प्यार करता था, कितनी देखभाल रखता था उनकी! नौजवान होते हुए भी दूसरों का कितना ख्याल रखता था, कैनेडी जैसा हमें भला कोई और मिलेगा?···'"

"तुम तो बाद में ज़रा दूर खड़े हो गए थे। एक बार जो उसने बोलना शुरू किया तो मानो बिना सांस लिए बोलती ही गई। और फिर बीसियों बार तो उसने मुझे उसकी बात सुनते रहने के लिए धन्यवाद दिया। बहुत ही अहसान माना उसने। जब जा रही थी तब ऐसा लगा मानो उसको चैन मिला, और शायद रात को उसे नींद आ सके।"

"लेकिन हमारी आखों से तो उस रात नींद गायब हो गई। ज्यों-ज्यों रात बीतती गई त्यों-त्यों एक तसवीर का खाका खिंचता गया हमारे सामने—कैनेडी की असली तसवीर, और हमें लगा कि कैनेडी से हमारी मुलाकात हो रही है।"

छोटा लड़का कुछ चौंका, "मुलाकात ! पापा, मुलाकात कैसे ?"

उसकी जीजी ने झिड़कते हुए कहा, "हाथ मिलानेवाली मुलाकात थोड़े ही। पापा का मतलब है पहचान, कैनेडी के गुणों की पहचान।"

"हा, जब किसी आदमी के भीतरी व्यक्तित्व और दूसरों पर उसके प्रभाव की पहचान हो जाती है, तभी उसके साथ सही माने में मुलाकात होती है—चाहे वह जिन्दा हो चाहे मृत। उस अधेड़ महिला के सच्चे उद्गारों से जान पड़ा कि सामान्य लोगों के मन में कैनेडी के प्रति कितना स्नेह था। हम लोग आगे बढ़े। दुकानें बंद थीं, पर शो-केसों में काले बॉर्डर में कैनेडी की तसवीरें थीं जिनके नीचे सफेद फूल थे और कुछ मर्मस्पर्शी उक्तियां। सड़कों पर शोर नहीं था, जुलूस नहीं थे। 'बोस्टन हैरल्ड' नामक स्थानीय दैनिक पत्र के दफ्तर के सामने कुछ लोग खड़े थे। हम लोग रुके। टेलीप्रिंटर पर ताज़ी खबरें छप-छपकर शो-केस में दीख रही थीं। एक तरफ कैनेडी के जीवन से सम्बद्ध तस्वीरें लगी थीं। चुपचाप लोग देख रहे थे, गुन रहे थे। हम लोग अण्डरग्राउंड ट्रेन के लिए नीचे उतरे। अखबार की दुकान पर एक औरत थी। मैंने ताज़ा संस्करण खरीदा। आप ही आप वह बोली, 'इतने भले आदमी को क्यों मारा किसीने ? आखिर क्यों एक भले आदमी को मारने का विचार किसीके मन में आता है।' लौटते वक्त ट्रेन में कई नीग्रो नागरिकों के मुरझाए चेहरे देखे। कुछ लोग हल्के स्वर में बातें भी कर रहे थे।

"मैं सोचने लगा, उन महिलाओं और अन्य लोगों में से किसीके मुंह से वह बात नही निकली जो ऐसे मौकों पर भारतवर्ष मे लोग जरूर कहते हैं। किसीने भी तो भाग्यचक्र की चर्चा नही की और न काल की गति के आगे बड़े से बड़े मनुष्य की निरुपायता का ही ज़िक्र किया!"

यह सुनकर मां ने अपनी आस्था की गहराइयो मे सुगबुगाहट महसूस की और बोली, "तुम कुछ भी कहो, वहां के लोग भी भाग्य के खेल और उसकी ठोकर से इन्कार नहीं करते। यह दूसरी बात है कि कहते न हों।"

"वही तो। हमारे यहा तो यह एक तरह का तकिया-कलाम है।"

"याद नही, शायद उसी रात···या दूसरे रोज़ रेडियो पर एडलाइ स्टीवेंसन ने कहा था—"

"क्या कहा था मा?" मझले लड़के ने पूछा, "एडलाइ स्टीवेंसन तो यूनाइटेड नेशन्स मे अमेरिका का प्रतिनिधि है और उसी डैलस नगर में उसके खिलाफ प्रदर्शन हुआ था और उसपर अडे वगैरह फेंके गए थे।"

"हां, वही। बड़ा काबिल आदमी माना जाता है और उदार-हृदय भी। जब उन्होने सुना कि कैनेडी डैलस जानेवाले हैं, उन्होने न्यूयार्क से वाशिंगटन में कैनेडी के प्राइवेट सेक्रेटरी को टेलीफोन किया, 'मेरे ख्याल मे प्रेज़िडेंट को डैलस नही जाना चाहिए। वहां की परिस्थिति अच्छी नहीं और वहा के लोग क्या कर बैठें, इसका कुछ ठिकाना नही है। आप ज़रूर मेरी बात प्रेज़िडेण्ट से कह दें।' सेक्रेटरी ने इसपर क्या कार्यवाही की यह उस समय स्टीवेंसन को नही मालूम हो सका। पर स्टीवेंसन स्वयं अपनी बात पर फिर गौर करने लगे और दो दिन बाद उन्होने फिर सेक्रेटरी को टेलीफोन किया, 'मैंने इस विषय पर फिर विचार किया है।···अब मैं समझता हूं कि प्रेजिडेंट के डैलस न जाने से गलतफहमी होने का अंदेशा है, क्योंकि टैक्सस राज्य के कुछ दूसरे स्थानो को वह जा ही रहे है। इसलिए मैं अपना सुझाव वापस लेता हू!'"

"भाग्यचक्र या मतिभ्रम!" पापा ने कुछ बदलते लहजे में कहा।

'''मानो इस रिमार्क के लिए पहले से तैयार मां बोली, "एक ही बात है।'''और फिर हाल ही में तो अखबारों में यह भी छपा है कि डैलस के लिए हवाई जहाज पर चढ़ने से पहले कैनेडी के स्टाफ के एक अफसर ने उनकी रक्षा की बात जब छेड़ी तो कैनेडी ने कहा, 'मेरी हत्या करना कोई मुश्किल काम नही। एक अच्छा निशानेबाज, एक टेलिस्कोपिक बंदूक और मेरे जाने के रास्ते पर कोई पंचमंजिला भवन जहां से गोली चलाई जा सके—बस इन तीनों की दरकार है।' "

"मां, इन तीनो चीजों का संयोग डैलस में हो गया था," बेटी बोली।

पापा ने बिखरते सूत्र को समेटते हुए कहा, "मैं यह नही कहता कि भाग्य का चक्र इस काण्ड के पीछे काम नही कर रहा था।''' लेकिन उन दिनों वहां के लोगों की जबान पर, वहा के रेडियो-टेलीविजन प्रोग्रामों मे, वहा के समाचारपत्रों की टिप्पणियों मे भाग्य का उल्लेख नही था। हम २२ नवंबर को रात के दो बजे तक रेडियो सुनते रहे। और हमे ऐसा अनुभव हुआ कि हम किसी सनसनीखेज नाटक के कथानक के उद्घाटन में हिस्सा ले रहे थे। हम क्या, लाखों-करोड़ों जनता रेडियो और टेलीविजन के माध्यम से घटनाचक्र की गति को देख रही थी, उसका स्वर सुन रही थी। उन साढ़े तीन दिनों के लिए रेडियो और टेलीविजन पर विज्ञापन ब्रॉडकास्ट नहीं किए गए। लगातार सवेरे के छह बजे से रात के दो-ढाई बजे तक यूनाइटेड स्टेट्स के एक कोने से दूसरे कोने तक इस रहस्यमय काण्ड पर प्रकाश डालनेवाले तथ्यों की खोज चलती रही और मिनट-मिनट पर जो घटता या मालूम होता वह हमारे कानों तक पहुंच जाता। उस दिन रात को कैनेडी के हत्यारे ओज्वल्ड की गिरफ्तारी के समाचार के बाद दो घंटे में ही एन० बी० सी० (अमेरिका की प्रमुख ब्रॉडकास्टिंग कम्पनी) ने उस इंटर्व्यू का रेकर्ड बजाया जो एक वर्ष पहले ओज्वल्ड से एन० बी० सी० के संवाददाता ने की थी। उससे ओज्वल्ड की विचारभूमि का पता चला। थोड़ी देर बाद ओज्वल्ड को जिस अध्यापिका ने पढ़ाया था उसकी आवाज हमने सुनी। फिर शिकागो

की जिस कम्पनी से ओज्वल्ड ने बंदूक डाक से मंगाई थी उसके मैनेजर का वार्तालाप भी हुआ। ओज्वल्ड के फौजी काम-काज के सम्बन्ध में कुछ दस्तावेजों का खुलासा भी सुनाया गया।"

बड़े लड़के ने कहा कि रेडियो तो तहकीकात करने वाली पुलिस का ही काम कर रहा था।

"हां," मा बताने लगीं, "दूसरे दिन हमने टेलीविजन पर देखा।"

"तो क्या टेलीविजन तुम्हारे एपार्टमेंट मे आ गया था, मां ?"

"नहीं, तब तक हमें टेलीविजन नहीं मिल पाया था। पर दूसरे दिन यानी २३ नवबर को हम लोग एक जगह दावत पर गए…"

पापा ने टोका, "दावत तो नहीं, लेकिन वह भी एक अनोखा अनुभव रहा। मिस्टर मार्खेल एक एटर्नी है; खासे समृद्ध है। वे और उनकी पत्नी दिसबर मे भारतवर्ष की सैर को जानेवाले थे। किसीने सलाह दी कि हम लोगो से बातें कर लें। उन्होंने हमे अपने क्लब में लच पर बुलाया ताकि इत्मीनान से बातें कर सकें। वे लोग २३ तारीख को हमें अपनी मोटर मे लेने के लिए आनेवाले थे। हमने सवेरे टेलीफोन किया—शायद इस अकस्मात् दुर्घटना के कारण वे लंच किसी और दिन करना चाहे। मिसेज मार्खेल ने जवाब दिया, 'घर पर बैठे-बैठे तो मन और भी उदास हो जाएगा; इसलिए क्लब मे और आप लोगों के साथ कुछ समय कट जाए तो अच्छा ही है।'"

मा को याद आया, "वह क्लब भी खूब था, हार्वर्ड के पुराने छात्रों का क्लब जिसमे हमे पिछवाड़े के दरवाजे से जाने की ही इजाजत थी, क्योकि स्त्रियां क्लब में मुख्य द्वार से प्रवेश नहीं कर सकती थीं।"

लड़की बोली, "वाह ! अमेरिका मे भी यह भेदभाव ?"

पापा ने कैफियत दी, "अरे, यह तो वहां का शौकीनी भेदभाव है। जैसे पुरानी चीज़ों को नये ड्राइंग-रूम में शौक के लिए रखा जाता है वैसे ही नये समाज मे परम्पराओं के एकाध चिह्न तफरीह के लिए चालू रखते है। वरना तो वहां औरतों की ही चलती है। मार्खेल दम्पती ७० वर्ष की आयु से ऊपर के हैं, पर मिसेज मार्खेल कहीं ज्यादा दबग लगती थी। गाड़ी चलाते समय मिस्टर मार्खेल को श्रीमती

जी के ही दिशासंकेत पर चलना पड़ता था।…घर ठाठदार था। उन्हींके यहां २३ नवबर को हमने टेलीविज़न पर कैनेडी की हत्यावाले नाटकीय कांड सम्बन्धी एक विचित्र दृश्य देखा। टेलीविजन पर उस कास्टेबिल से सवाल-जवाब हो रहे थे जिसने कैनेडी के हत्यारे ओज़्वल्ड को हिरासत में लिया था। हमारे देश में तो इतने महत्त्वपूर्ण गवाह से इस तरह खुले आम जुर्म के विषय मे चर्चा करना अदालत की कार्यवाही में दखल करना समझा जाएगा।…पर अमेरिका में सुप्रीम कोर्ट को छोड़कर राज्य की अदालतें जनता की जानकारी को बहुत महत्त्व देती है। अखबार, रेडियो, टेलीविजन—इनके प्रतिनिधियो को पूरी सुविधाए दी जाती हैं। कभी-कभी इसका कितना भीषण परिणाम होता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देखा रविवार को…"

मां ने सुझाया, "पर उससे पहले शनिवार की रात-भर हम लोगों को रेडियो और टेलीविज़न से कैनेडी के बारे में अनेक नई बातें मालूम हुई। पहले तो यह खबर आई कि कैनेडी को उनके जन्मस्थान बोस्टन ही मे दफनाया जाएगा। उसके माता-पिता बोस्टन के निकट केपकौड नामक स्थान मे रहते है। दो महीने पहले कुटुम्ब के कब्रगाह मे अपने छोटे लड़के के शव को दफ़नाने कैनेडी बोस्टन आया था।… फिर सुना कि अन्त्येष्टि-क्रिया के अवसर पर दुनिया के विभिन्न देशों से इतने महत्त्वपूर्ण व्यक्ति आएगे कि उनकी रक्षा का प्रबंध वाशिंगटन मे ही हो सकता था।…अनेक देशों से राजा, प्रेज़िडेंट, प्रधानमंत्री, विदेशमन्त्रियों के वाशिंगटन के लिए रवाना होने की खबरें आई, पर भारतवर्ष से नहीं। इसका मलाल रहा और हमारे कुछ मित्रों ने इस-पर टीका-टिप्पणी भी की।…तुमने तो बहुत दिन बाद हमारे राजदूत से इस बात की चर्चा की थी न ?"

"हां ! उन्होंने कारण समझाए, लेकिन २४-२५ नवंबर को तो अमेरिका में सभी भारतीयों को यह बात अखरी। २४ की सवेरे से कैनेडी के शव को वाशिंगटन में कैपिटोल (वहां के ससद् के निकट विशाल गोलाकार हॉल) ले जाए जाने के विवरण आने लगे। कैसे कैनेडी की पत्नी वहां अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने पहुंची—बच्चों

के साथ।"

"कैनेडी की पत्नी पर जो बीती उसे देख-देखकर तो आंसू आते थे।"

"कहते हैं मिसेज़ कैनेडी की आंखों से पहली बार आंसू तब बहने लगे जब उनके पति के शव को डैलस से वाशिंगटन ले जाए जाने के लिए हवाई जहाज़ में रखे जाने के बाद जहाज़ ही में जान्सन को प्रेज़िडेंट के पद की शपथ लेनी पड़ी और जान्सन ने उन्हें ढाढ़स देने के लिए गले से लगाया। उस वक्त तक वह अपने को जब्त किए रही। गोली लगते ही कैनेडी उसकी गोदी में गिर पड़े। मोटर अस्पताल की ओर तेज़ी से बढ़ी। बीस मिनट के करीब बचाने की कोशिश चलती रही और मिसेज़ कैनेडी आशा लगाए खड़ी थी।...सवेरे ही तो दोनों नाश्ते के बाद फोर्टवर्थ होटल से चले थे!...मिसेज़ कैनेडी को तैयार होने में कुछ देर हो गई और बाहर कैनेडी जनता और प्रेसवालों से बात कर रहे थे और मिसेज़ के सुसज्जित होने की देरी पर परिहास कर रहे थे।...लोगों ने देखा, अत्यंत आकर्षक पोशाक पहने वह सौन्दर्य-प्रतिमा बसंत की बयार की तरह चली आ रही है, और बरबस सब लोगों ने उसके स्वागत में ताली बजाई।...उसी रात को वाशिंगटन में प्रेस और टेलीविज़न वालों ने उसी पोशाक में विषाद और व्यथा की मूर्ति को अपने पति के शव के साथ हवाई जहाज़ से उतरते देखा।"

"गज़ब की हिम्मत दिखाई उस औरत ने। रविवार को सवेरे तुम तो कृष्णराव को लेने हार्वर्ड स्क्वायर चले गए थे और मैंने रेडियो पर सुना कि शवयात्रा के इंतज़ाम के बारे में मिसेज़ कैनेडी ही स्वयं निर्देशन दे रही थीं।"

"कृष्णराव कौन पापा?" मंझले लड़के ने पूछा।

"एक लड़का, जिसकी आंखों की दृष्टि जाती रही है, हमारे एक भारतीय मित्र का लड़का है और उन दिनों हार्वर्ड के पास नेत्रहीन छात्रों के एक विशेष स्कूल में पढ़ता था।...वह पर्किन्स स्कूल भी गज़ब का स्कूल है। नेत्रहीन लड़कों को वहां इस तरह रहन-सहन, पठन-पाठन कराया जाता है कि उनमें आत्मविश्वास दृढ़ हो जाता है।

कृष्णराव अपने-आप बस में बैठकर हार्वर्ड स्क्वायर आया और वहां से मैं उसे लेने गया। रास्ते में विश्वविद्यालय के प्रांगण से गुजरा। अजब सुनसान था। भीतरी हड्डियों को कंपानेवाली हवा चल रही थी। मैंने देखा, हवा के झोंके से २३ नवंबर की तारीख के अखबारों के पन्ने पतझर की पत्तियों की भांति इधर-उधर बिखरे पड़े थे। उनमें से सुर्खियां झांक रही थीं, 'कैनेडी शाट डैड!'···एक नौजवान की मौत जो अपने चरमोत्कर्ष पर था, जिसे कुछ कमी न थी, अपार सम्पदा, सुंदर और शीलवान पत्नी, दो नन्हे बच्चे, विश्व के सर्वसमृद्ध राष्ट्र का सर्वोच्च नायक!···और ये पतझर की पीली पत्तियां, अखबार के ये उपेक्षित, ठुकराए हुए पन्ने!"

"शायद इसीलिए तुम कृष्णराव को लेने देर से पहुंचे। उसे इंतज़ार करना पड़ा।···मैंने उसे भारतीय खाना खिलाने के लिए बुलाया था—कढ़ी चावल! दो-तीन और हिन्दुस्तानी लड़के आ गए थे। मैं चौके में थी, और तुम लोग रेडियो सुन रहे थे। तभी···"

"तभी कृष्णराव चिल्लाया, 'अरे यह कैसी आवाज़!' हम लोगों ने सुनी—रेडियो की कमेंटरी के बीच ठक-ठक गोलियां चलने की आवाज़ और उसके बाद रेडियो संवाददाता का स्वर—'ही'ज़ शाट, ही'ज़ शाट!'···और हम लोगों की भांति लाखों व्यक्तियों ने—दुनिया के इतिहास में पहली बार इतनी संख्या में—एक अनहोनी घटना को उसी समय देखा और सुना जब वह घट रही थी। लगा कि हम लोग किसी विश्वव्यापी रंगमंच पर होते नाटक में भाग ले रहे हैं।"

"पापा, आप ओज़वल्ड की हत्या का ज़िक्र कर रहे हैं?"

"हां! तुम्हें तो मालूम ही है कि ओज़वल्ड को शहर की हवालात से राज्य की जेल में ले जाया जा रहा था। मगर तुम्हें शायद यह न मालूम हो कि यह काम रात ही को होना था। पर अखबार, रेडियो और टेलीविज़न वालों ने आग्रह किया कि दिन ही में उसे स्थानांतर किया जाए ताकि वे लोग भली भांति विवरण भेज सकें। यकीन नहीं होता, पर यह सच है कि अखबारों इत्यादि का वहां के राज्यों की

ग्रदालतों, पुलिस एवं ग्रधिकारियों पर भारी ग्रसर है ग्रौर उनकी बात को वे लोग टालना नही चाहते।···लेकिन उन लोगों को यह गुमान भी न था कि जैक रूबी इतनी ग्रासानी से ग्रौज़्वल्ड का काम तमाम कर देंगे।···"

मां ने कहा, "उस दिन की रेडियो कमेंटरी हम कभी नही भूल सकते।···एक क्षण मे वाशिंगटन के सीन, दूसरे में डैलस, तीसरे में शिकागो, न्यूयार्क !"

"जानती हो, तीनों बड़ी कम्पनियों—एन० बी० सी०, सी० बी० एस० ग्रौर ए० बी० सी० ने सैंकड़ो प्रतिनिधियो को जगह-जगह भेज रखा था। उनकी ग्रपनी टेलीफोन लाइनें थी, ग्रौर टेलीविज़न की तस्वीर सैंकड़ों-हज़ारों मील दूर तक खास ढंग के तारों से भेजी जा रही थी। न्यूयार्क में बैठा हुग्रा संवाददाता हमें दीखता था—टेलीफोन पर डैलस मे ग्रपने प्रतिनिधि से बात करता हुआ या वाशिंगटन मे कैपिटोल के दृश्य दिखाता हुग्रा। इन कम्पनियो ने लाखों डालर उन साढे तीन दिनो मे खर्च किए।"

"रविवार की रात को उन्होने कैनेडी के जीवन की ग्रनेक भाकिया दिखाई। एक दृश्य मैं नही भूल सकती। प्रेस कान्फ्रेंस मे पत्र-प्रतिनिधियो से बात कर रहा था कैनेडी। इतने मे उसकी लड़की कैरोलाइन ग्रपनी मां के बड़े-बड़े स्लीपर पहने ठुमक-ठुमक ग्रपने पिता के पास जाने लगी। सारे प्रेस वाले मंत्रमुग्ध हो गए जब कैनेडी ग्रपनी *रालिंग चेयर (लुढ़कनेवाली कुर्सी, जो उसे बेहद पसंद थी)* से उठा ग्रौर कैरोलाइन की उगली पकड़कर उसे घर की ग्रोर ले चला।···"

"मुझे तो कैनेडी के प्रेज़िडेंट पद पर ग्रासीन होने का दृश्य ग्रविस्मरणीय लगता है। याद है, उन लोगो ने टेलीविज़न पर २० जनवरी, १९६० के कैनेडी के उस प्रसिद्ध भाषण की छवि दिखाई थी, जिसमें उसने कहा था—

'ग्राज इसी स्थान से दोस्त ग्रौर दुश्मन के पास यह घोषणा पहुचा दो कि ग्रब से ग्रमेरिकनों की एक नई पीढ़ी ने ग्रपने हाथों में मशाल ले ली है,—वह पीढ़ी जिसका इस बीसवीं सदी में जन्म हुग्रा

है, महायुद्धों में जो तपी है, उसके बाद कठोर और क्लेश-भरी शांति ने जिसे अनुशासित किया है, जिसे अपनी पुरानी विरासत पर गौरव है। ...दुनिया का हर राष्ट्र यह भली भांति जान ले कि अपनी आज़ादी को सफल और कायम रखने के लिए हम कोई भी कीमत देने को प्रस्तुत है—कैसा भी बोझ संभालने को, किसी भी मुसीबत का सामना करने को, किसी भी दोस्त का साथ देने और दुश्मन का मुकाबला करने को। इतनी प्रतिज्ञा हम करते है, बल्कि इससे भी अधिक।'"

मां ने पापा के मूड को देखकर एक बात की याद और दिलाई, "उसी २० जनवरी, १९६० को अमेरिका के राष्ट्रकवि राबर्ट फ्रास्ट ने भी तो एक कविता पढ़ी थी..."

"क्या अनुपम दृश्य था वह! कविता का नाम था 'दी गिफ्ट आउटराइट'—कवि ने उसे कैनेडी को समर्पित किया था। कवि कह रहा था कि जब तक हमने अपने को पूरी तरह अपने देश में निमज्जित नहीं कर दिया तब तक हम कमज़ोर रहे।"

"पापा," छोटे लड़के ने दूसरी ही तान छेड़ते हुए कहा, "हमने सुना है, कैनेडी मज़ाकिया भी बहुत था।"

"न पूछो।...यह देखो, हम एक ग्रामोफोन रेकर्ड लाए है जिसमें कैनेडी की अनेक हंसानेवाली उक्तियां उसीकी आवाज़ मे है। अधिकतर तो उसकी प्रेस-कान्फ्रेन्सों से ली गई हैं।...जानते हो, अपनी होनेवाली पत्नी से एक रेस्टरां में पहली मुलाकात का ज़िक्र करते हुए उसने कहा, 'मैंने जैकी के हाथ से शरबत का गिलास ले लिया और 'डेट' की मांग की।' अंग्रेज़ी में 'डेट' खजूर को भी कहते है और प्रेमियो के मिलने के लिए तय की गई तारीख को भी!"

"कैनेडी और उसकी पत्नी के ग्रामोफोन रेकर्ड क्या, उनकी मूर्तियां, उनकी तसवीरें, उनके नाम के कपड़ों के स्टाइल—न जाने कितनी चीज़ें मैंने बाज़ारों में देखी। यह सब उसके मरने से पहले ही हो चुका था और मैं तो चकित थी कि एक पाश्चात्य देश में किसी राजनीतिक व्यक्ति को इस ढंग का स्नेह मिल सकता है!"

"कैनेडी एक 'लेजेंड' बन गया था अपने जीवनकाल में ही। पर यह

न भूलो कि शक्ल-सूरत और आवाज़ ही नहीं, बल्कि उसकी लेखनी ने भी उसे लोकप्रिय बना दिया था। प्रेज़िडेंट बनने के बहुत पहले उसने एक पुस्तक लिखी थी—'प्रोफील्स इन करेज' जिसमें उसने अमेरिकन संसद् के कुछ चुने हुए निर्भीक सदस्यों के जीवनचरित दिए थे। अर्से तक उस पुस्तक की मांग बनी रही—लाखों की तादाद में बिकती रही।"

"पापा, २५ नवम्बर को क्या हुआ?" लड़की ने कथा आगे बढ़ाने की गरज़ से पूछा।

"उस दिन सारे अमेरिका में मातम की छुट्टी थी। हार्वर्ड के चर्च भरे हुए थे। बोस्टन में सरकारी जुलूस निकलने वाला था। लेकिन सभी की आंखें लगी हुई थीं—वाशिंगटन की आर्लिंगटन सिमेटरी की ओर जहां विश्व के अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों की श्रद्धांजलियों के बीच कैनेडी का शव दफनाया जानेवाला था।"

"मुझे उस दिन सवेरे एक अस्पताल में अपनी जांच कराने जाना था। ख्याल हुआ कि शायद उस दिन डॉक्टर जांच न करना चाहे और दूसरी तारीख दे दें। हम लोग भी टेलीविज़न पर उस तीसरे पहर का दृश्य देखने से अपने को वंचित नहीं करना चाहते थे। पर डॉक्टर ने कहा, काम तो चालू रहना ही है। पर आधा घंटा जल्दी आ जाइए।"

"डॉक्टरी जांच के बाद तुम बोलीं कि सीधे ही अपने पाकिस्तानी सहकर्मी शाह साहब के यहां चलें टेलीविज़न देखने के लिए।···हम लोगों ने रास्ते के रेस्टरां में जल्दी-जल्दी खाना खाया और जब शाह साहब के यहां पहुंचे तो टेलीविज़न पर देखा, कैनेडी का शव चर्च में ले जाया जा चुका था। रोमन-कैथलिक कार्डिनल कुशिंग संस्कार-रीति सम्पन्न कर रहे थे। कैनेडी अमेरिका का पहला रोमन-कैथलिक प्रेज़िडेंट था। कार्डिनल कुशिंग कैनेडी कुटुम्ब के पुरोहित भी हैं और मित्र भी। हमने दो रात पहले बोस्टन में रेडियो पर कैनेडी के बारे में कुशिंग का भाषण सुना था; कितने हृदयद्रावक शब्द थे उनके! ऐसी उच्चकोटि की अंग्रेज़ी में हमने एक ही वार्ता सुनी थी, गांधी जी के

मरणोपरान्त राजकुमारी अमृतकौर का भाषण !"

"पर कार्डिनल कुशिग संस्कार करते समय लेटिन में इस तरह बोल रहे थे जैसे हमारे यहां पुरोहित जल्दी-जल्दी मंत्रोच्चारण करते है।...और तो और, वे अपनी विधियों के अनुसार जब लाल 'वाइन' पीते थे, तो लगता था कि यही उनका आचमन हो।...मैं समझती हूं कि इन लोगों के संस्कार तो हमारे यहां की तरह ही पुराणपंथी होते हैं।"

"हां, लेकिन अन्तर इतना है कि वहां शांति और ध्यान का वातावरण होता है और हमारे यहां शोरगुल।...देखा नहीं, चर्च में कितने करीने और शांति से सब बैठे रहे।...संस्कार के बाद कुशिग बाहर की तरफ बढ़े। मार्ग में किनारे की कुर्सी पर मिसेज़ कैनेडी और उनकी लड़की कैरोलाइन बैठी थी।...कार्डिनल थोड़ा रुके और उन्होंने कैरोलाइन के माथे को चूमा और उसके बाद जुलूस आगे बढ़ा।"

"मेरी आंखें तो भीग गईं, उस दृश्य को देखकर। शव के पीछे-पीछे मिसेज़ कैनेडी जा रही थी, एक हाथ की उंगली कैरोलाइन पकड़े थी, दूसरे की छोटा जोन। शव को फौजी गाड़ी पर रखा गया। गाड़ी बढ़ने लगी। हम लोगों ने देखा कि मिसेज कैनेडी ने झुककर नन्हे जौन के कानों में कुछ कहा। उस बच्चे ने सीधे खड़े होकर फौजी गाड़ी में जाते हुए अपने पिता के शव को फौजी ढंग से सलामी दी।... लाखों-करोड़ों माताओं के हृदय उस बच्चे को देखकर भर आए होंगे।"

मां का स्वर कांपने-सा लगा। मेज के चारों तरफ एक उच्छ्वास-सा छा गया। पापा ने कथा को जल्दी समाप्त करने की कोशिश की।

"हम नाटक का अंतिम सीन देख रहे थे। या कहूं कि किसी उत्कृष्ट फिल्म डाइरेक्टर की सिम्बौलिकल (सांकेतिक) फिल्म की झांकी। कमेंटेटर कह रहा था कि बर्फीली हवा उस समय की चमकती धूप को निर्जीव बनाए हुए थी। पर सब कुछ स्पष्ट दीख रहा था—पारदर्शक शीशे में छनकर आनेवाली छवि की भांति। जुलूस बढ़ रहा

था आर्लिंगटन सिमेटरी की तरफ जहां देश के फौजी बहादुरों को दफनाया जाता है। कैनेडी भी तो योद्धा था; मरण में ही नहीं, दूसरे महायुद्ध में एक गनबोट में संघर्ष के समय विशेष बहादुरी का परिचय देने पर उसका स्तवन भी हुआ था।...जुलूस में एक पंक्ति में प्रेज़िडेंट डिगोल, अबीसीनिया के सम्राट्, जर्मनी के प्रेज़िडेंट, इंग्लैण्ड के प्रिंस फिलिप इत्यादि कदम बढ़ा रहे थे। वाशिंगटन में भी इतनी संख्या में विश्व के सम्राटों, राजाओं और राष्ट्रनायकों का जमघट नहीं हुआ था।...

"आर्लिंगटन सिमेटरी की तरफ जहां 'अननोन सोल्जर' (वे सैनिक शहीद जिनके नाम भी नहीं ज्ञात) की समाधि पर चौबीस घंटे पहरा लगता है। ...और सामने ढाल पर सूने वृक्षों की अधूरी छाया में हज़ारों सफेद कब्र। और ढलते सूरज द्वारा फेंकी गई कब्रों की लम्बी परछाइयां, पतझर द्वारा सजाई धरती पर महाकाल की स्पष्ट रेखाएं! ...हज़ारों की भीड़ किन्तु कोलाहल नहीं।...शव जहां उतारा गया वहीं खड़ी थी आयरलैंड के सिपाहियों की टुकड़ी।...कैनेडी के पुरखे आयरलैंड ही से आए थे और इसलिए इस अवसर पर श्रद्धांजलि देने आयरलैंड से वह सैनिक टुकड़ी खास तौर से हवाई जहाज द्वारा आई। ...इन लोगों ने बंदूक हवा में चलाकर सलामी दी! ...और भी सलामियां दी गईं।...सब लोगों ने अपनी टोपियां उतार लीं।...कब्र बंद की जा रही थी।...और तब मिसेज़ कैनेडी के हाथों उस फ्लेम (ज्योति) को अग्नि दी गई जो तब से बराबर आर्लिंगटन सिमेटरी के उसी स्थान पर जलती रही है।...अमर ज्योति।...सैंकड़ों फौजी बिगुलों से एक गगनवेधी रुदन-स्वर निकला! ...परछाइयां लम्बी होती चली गईं।...

"टेलीविज़न बंद होने पर हम लोग अपने घर को लौट चले।... हार्वर्ड की गलियां सुनसान थीं।...पीली और जीर्ण-शीर्ण पत्तियां हमारी स्ट्रीट पर इधर-उधर उड़ रही थीं। हमें लगा कि जैसे समय से पहले जाड़े और ठिठुरन का मौसम आ गया था।"

× × ×

मां का मातृत्व सहसा जगा। बच्चे सब बड़े और समझदार हैं, पर रात के समय सोने से पूर्व ऐसी उदासी ठीक नहीं। बोलीं, "अब सो जाओ। कल पापा अमरीका की कोई दिलचस्प बात बताएंगे।"

जाते-जाते छोटे लड़के ने पूछ ही लिया, "वह ज्योति आपने देखी है पापा?"

पापा ने एक चित्र पकड़ाते हुए कहा, "यह है आर्लिंगटन सिमेटरी का चित्र।...यह देखो, सिपाही खड़ा है।...यह रही वह ज्योति जैसा हमने उसे देखा था।"

जब और भाई-बहन चले गए तो बड़े लड़के ने कहा, "पापा, मुझे कालिज में एक निबंध लिखना है—'कैनेडी का महत्त्व।' कुछ प्वाइंट्स दे सकेंगे?"

पापा ने कहा, "अच्छा।"

निशीथ के निस्पन्द वातावरण को छीलती हुई-सी उनकी लेखनी चलने लगी—

(१) कैनेडी बीसवीं सदी के प्रजातंत्रीय युग में १५वीं-१६वीं सदी के यूरोपीय नवजागरण काल—रेनेसां—के सुसंस्कृत, ज्ञानोपासक, विविध गुण-सम्पन्न ड्यूकों और राजाओं का नवीन और तेजस्वी स्वरूप था। उन्हीं लोगों की भांति उसने अपने चारों ओर प्रतिभाशाली विद्वानों, प्रसिद्ध कवियों, लेखकों और कलाकारों को जमा किया। उसकी पत्नी ने इटली के महलों की भांति कलात्मक रीति से ह्वाइट हाउस को सजाया। उनके राजभोजों और पार्टियों में केवल राजनीतिज्ञ और सरकारी अफसर ही नहीं होते थे, बल्कि मनीषी और कलाकार भी। एक बार तो ह्वाइट हाउस में उन्होंने एक अनूठा राजभोज दिया जिसमें अमेरिका के केवल वे ही साहित्यकार, वैज्ञानिक, कवि, दार्शनिक इत्यादि बुलाए गए थे जिन्हें नोबेल पुरस्कार मिल चुका था। जब सब लोग जमा हो गए तो कैनेडी ने कहा, 'महानुभावो, आज इस कमरे में जितनी प्रतिभा एकत्र है उतनी इस भवन के इतिहास में कभी नहीं हुई, सिवाय उस एकमात्र

अवसर के जब इसी कमरे में अकेले बैठकर जैफर्सन ने भोजन किया था।' (जैफर्सन अमेरिका का सर्वतोन्मुखी प्रतिभाशाली प्रेज़िडेंट माना जाता है जिसने अमेरिकन विधान के अधिकार घोषणापत्र की रचना भी की थी।)

(२) कैनेडी अमेरिका में वुडरो विल्सन के बाद पहला प्रेज़िडेंट था जो विचारों की शक्ति को शासन और नीति की प्रेरणा बनाना चाहता था। अपनी अपूर्व मेधाशक्ति से उसने प्रेज़िडेंट के पद और कर्त्तव्यों की एक फिलासफी—मूल दर्शन—बना ली था जिसे वह अपनी अनुपम वक्तृत्व शैली द्वारा घोषित करता था। एक बार उसने कहा था, 'मैं एक ऐसा प्रेज़िडेंट होना चाहता हूं जो समस्याओं का सामना करता है इस उम्मीद से नहीं कि उसके नीचे के कर्मचारी कुछ करेंगे, बल्कि इसलिए कि उन कर्मचारियों को काम के बारे में स्पष्ट निर्देश देना है।···जब काम के रंग-ढंग अत्यंत शान्त और मज़े से चलनेवाले दीखते हैं, तब मुझे अंदेशा होता है कि कुछ दाल में काला है।' प्रेज़िडेंट का पद सभालने पर उसने अपनी ओजस्विनी वाणी में कहा था, 'दुनिया के लम्बे इतिहास में बहुत कम पीढ़ियों को इससे अधिक खतरे की घड़ी में स्वतन्त्रता की रक्षा करने का भार मिला है। मैं इस उत्तर-दायित्व से मुकरता नहीं—मैं तो इसका स्वागत करता हूं।··· इस प्रयास में जो शक्ति, विश्वास और आस्था हम लोग देंगे वही हमारे देश को ज्योतित करेगी और उन सभी को जो देश की सेवा में लगे हैं—और इस अग्नि से जो आभा फैलेगी वह सच्चे अर्थ में सारे भूमंडल को प्रदीप्त कर सकेगी।···इसलिए, मेरे अमेरिकन सहनागरिको, यह न पूछो कि तुम्हारा देश तुम्हारे लिए क्या कर सकता है; यह पूछो कि तुम अपने देश के लिए क्या कर सकते हो? और मेरे साथी विश्वनागरिको, यह न पूछो कि अमेरिका तुम्हारे लिए क्या कर सकता है, बल्कि यह कि हम सब मिलकर मानव की स्वतंत्रता के लिए क्या कर सकते है?'

(३) दुनिया के इतिहास में कैनेडी उन इने-गिने राष्ट्रनायकों में से था जिनकी लड़कपन से ही शिक्षा-दीक्षा एक लक्ष्य को ध्यान में रखकर हुई थी। वह लक्ष्य था अमेरिका का प्रेज़िडेंट होना। उसके पिता एक ज़माने में इंग्लैंड में अमेरिका के राजदूत थे। उनके बड़े पुत्र की मृत्यु के बाद ही उन्होंने यह योजना मन में निश्चित की थी कि जौन किसी दिन अमेरिका का प्रेज़िडेंट बने। यह दुर्लभ आकांक्षा थी, क्योंकि इससे पहले कोई रोमन-कैथलिक प्रेज़िडेंट के पद के लिए नहीं चुना गया था। लेकिन जिस लगन से उसने अपने को इस लक्ष्य के लिए तैयार किया वह निस्संदेह अनूठी थी। सुना है, हार्वर्ड में उसने अत्यन्त शीघ्र गति से पढ़ने की एक विशेष प्रणाली को सीखा। जब वह इलेक्शन के प्रचार के लिए तैयार हो रहा था तो रात-रात-भर चार-पांच आदमी एक के बाद एक प्रश्न उससे करते और उसे प्रत्युत्पन्नमति होकर उत्तर देना होता। यह भी सही है कि अपार सम्पदा का उत्तराधिकारी होने के कारण इलेक्शन की दौड़-धूप में और अपने राजनीतिक जीवन में उसे किसी तरह की कमी न थी। पर प्रधानतः उसने योग्यता और मेधाशक्ति को अपनी सफलता की आधारशिला बनाया है।

(४) अपने ढाई वर्ष के लघु काल में उसने प्रेज़िडेंट के पद से क्या सफलताएं प्राप्त की? छह स्पष्ट हैं। एक यह कि क्यूबा में जब रूस से तनातनी में अणुबमों के युद्ध का खतरा आ पहुंचा, तब कैनेडी ने दृढ़ता प्रदर्शित करके रूस की नजरों में अमेरिका की सत्ता और शक्ति को स्पष्ट कर दिया। दूसरे, उसने लगभग एक सौ वर्ष बाद अमेरिका की नीग्रो जनता को पुनः अपने बुनियादी अधिकारों के बारे में आशा और साहस प्रदान किए। तीसरे, उसने दुनिया के आर्थिक रूप से पिछड़े हुए देशों की सहायता देना अमेरिका की नीति का एक प्रमुख पक्ष बनाया। चौथे, कैनेडी ने अंतरिक्ष में विमानों को भेजने की दौड़ में अमेरिका को पुनः अग्रगामी बनाया। पांचवें, अमेरिका के जीर्ण-शीर्ण उप-

नगरों तथा कोनों में दुबके हुए अल्पवर्गीय निर्धनों को पुनर्जीवित करने की योजना को उसने अपने देश के समृद्ध और सुसम्पन्न वातावरण में एक नूतन और सच्ची घोषणा का रूप दिया। छठे, कैनेडी ने रूस के साथ अणुबमों के परीक्षण पर रोक लगाने वाली संधि पर हस्ताक्षर करके शायद रूसी-अमेरिकन सम्बन्धों को एक नया मोड़ दे दिया।

कैनेडी ने क्या पाया, देश और विश्व ने उससे क्या पाया—यह लिखते-लिखते पापा सोचने लगे कि युग ने उन साढ़े तीन दिनों में क्या खोया, इसकी थाह कोई ले सकेगा?

कौन जाने कैनेडी सफल होता या नहीं? दुनिया की मजलिस ने तो एक उन्मुक्त नवोदित, पर सधे हुए स्वर में मानो दरबारी राग का अलाप मात्र ही सुना। उसके स्थायी, संचारी, उसकी बोलतान, अलंकार, मुरकिया, उस राग का उठान क्या होता, यह तो इतिहास का ऐसा प्रश्न बना रहेगा जिसका उत्तर मौन है।

टूटी रागिनी की याद में विषाद भी है और स्फुरण भी।

हमारी गली

बारह बरस नई दिल्ली की इस गली में बिताने के बाद हम लोग इससे बिछुड़ ही गए।

नई दिल्ली में गली ? शंका वाजिब है। पुरानी दिल्ली गलियों का जूड़ा है, नई दिल्ली चौड़ी सड़कों की अंगड़ाई है। जूड़े मे मुकुट है और जुएं भी; अंगड़ाई सुडौल-लम्बी भुजाओं-से राजपथों और उभरते यौवन-से आधुनिक पार्कों की छटा दिखाती है। इसमें गलियों के लिए गुंजाइश कहां ? स्लम यानी मजदूरपेशा लोगों की झुग्गी-झोंपड़ियां अलबत्ता हैं, मानो किसी स्नानविमुख सुन्दरी के मैल-भरे भुजमूल।

बात यह है कि अंग्रेज़ों ने भारतीय नमूने पर हमारी गली नहीं बनाई थी। उन्होंने तो विशाल विटप-सी चौड़ी 'रोड' की नाज़ुक नन्ही टहनी के समान पाश्चात्य ढंग की 'लेन' छोटे अफसरों की सहूलियत के लिए तैयार की। उस ज़माने में मैंने इस गली को नही देखा, क्योंकि तब मैं हुकूमत का एक अदना अफसर दूर देहात की धूल फांक रहा था।

मैंने तो आज़ादी के लगभग १० बरस बाद से इसे 'गली' ही के रूप में पाया और एक तरह से इसमें बस गया।

'लेन' दिल्ली मे और भी हैं। लेकिन ऐसी 'लेन' जिसने गली की आत्मीयता अपनाई हो, विरली ही हैं। मैं मानता हूं कि 'गली' की पदवी गंदगी के बिना नहीं मिलती। यों हमारी गली में गंदगी, गोरे

गाल पर काले तिल से कुछ ज्यादा ही दमकती है। पश्चिम दिशा से इस गली में दाखिल होने वाले को वह कूड़ाघर मिलेगा जो अर्सा हुआ तत्कालीन स्वास्थ्यमंत्री की बदौलत यहां बनाया गया। हमारी गली उन स्वास्थ्यमंत्री के मकान का पिछवाड़ा भी तो थी। हमारे देश की पुरानी परम्परा है, रुपया थैली के भीतर पड़ना चाहिए और कूड़ा कूड़ाघर के बाहर। किसी मॉडर्न मेहतर ने कूड़ाघर की दीवार पर लिख दिया था—"कूड़ा अंदर डालिए।" चूंकि लोगों ने उसके अनुरोध पर कोई खास ध्यान नहीं दिया, इसलिए उसने शिष्टता का बाना त्याग कर दूसरा वाक्य लिखा—"जो कूड़ा अंदर नहीं डालेगा, उसकी···" उसके बाद के शब्दों में काम और क्रोध का सजीव सम्मिश्रण था, यानी कूड़ा डालने वाले के साथ रिश्तेदारी कायम करने की धमकी।

पर कूड़ाघर के इर्द-गिर्द नाना प्रकार की गंदगियों के अम्बार यह घोषित करते हैं कि धमकी कारगर नहीं हुई। हमारी गली के दूसरे सिरे पर ऐसा नुक्कड़ है जो पिछवाड़े के क्वार्टरों के बच्चों के लिए उन्मुक्त शौचालय है और प्रौढ़ों के लिए पेशाबघर। इस तरह दोनों ही सिरों से गली नाम को सार्थक करने वाली गंदगी का साइनबोर्ड लगा हुआ है। लेकिन हमारी गली की गंदगी में पुरानी दिल्ली के कूचों का वह कमाल नहीं जो नाक दबाकर निकल जाने को मजबूर करे। दोनों तरफ खुली हुई होने के कारण इसे अंधी गली भी नहीं कह सकते। फिर भी यह गली है।

शायद इस गली का विशेष फीचर हैं वे पिछवाड़े अपने मकान से निकलते ही जिनका मैं सामना करता हूं। एक तरफ छोटे-छोटे बंगलों के मुखद्वार, दूसरी तरफ कुछ बड़ी कोठियों के पिछवाड़े। 'आउट हाउसों' की लंगार। एक जमाने में ये नौकरों के क्वार्टर ही थे। अब इनमें नौकर भी रहते हैं और तरह-तरह के पेशेवर लोग भी जो इस महंगी के ज़माने में मकान के नाम पर रात गुज़ारने के लिए छत का आश्रय ही चाहते हैं। नई दिल्ली के बीचोंबीच यह कुछ कम नियामत है?

मैं इन्हें अपनी गली के लिए नियामत मानता हूं। ये पिछवाड़े उस

कुम्हार की भट्ठी की तरह है जिनमें तरह-तरह के बरतन—छोटे-बड़े, सुडौल—बेडौल पकते रहते हैं, समाज के बहुधर्मी, बहुरंगी पात्र, जिनमें जीवन का रस रिसता है। कोठियों में रहने वाले लोग इनके मुकाबले में एकरस—'मोनोटोनस'—पात्र जान पड़ते हैं। कोठियों के मुखद्वार से प्रायः मोटरों ही में बैठकर लोग बाहर आते हैं। गली का असली व्यवहार तो इन पिछवाड़ों और गली के पूर्वी प्रवेश में स्थित धोबी-बस्ती के निवासी ही करते हैं।

दोनों ओर बड़ी सड़कों पर मोटरें आती और चली जाती हैं। रिक्शा, तांगे, बसें, आदमी—सब मानो एक-से ही सांचों में ढले, सब मानो दूर किसी अनजान मंज़िल के लिए बेताब मुसाफिर जो उस रास्ते पर वापस आएं, न आएं। कोई लगाव नहीं उस सड़क से, कोई मोह नहीं। सड़क एक दर्पण है और चलने वाले लोग और सवारियां उसपर प्रतिबिंबित आती-जाती छायाएं।

लेकिन हमारी गली एक फव्वारा है और उसके दोनों ओर बसने वाले या उसका व्यवहार करने वाले लोग चंचल जलकण। उस फव्वारे का पानी एक ही है। चौबीस घंटे के चक्र में चलायमान है। थोड़ी देर नाचकर सरोवर में गिरता है और किसी अज्ञात यंत्र द्वारा ऊपर टंकी पर पहुंच पुनः उसी रास्ते से गुज़रता हुआ अपनी छटा दिखाता है।

यह चक्र चलता ही रहता है, पर इस गति में कोई ऊब नहीं है, इस जल में कोई बासीपन नहीं है। जानी-पहचानी होती हुई भी ये तसवीरें अक्सर नई-सी लगती हैं, ऐसे ही जैसे रीते बादलों की वे टुकड़ियां जिनको डूबते सूरज की किरणें नवेली, रंगीली परियों का-सा रूप दे देती हैं।

बारहमासा का चक्र भी बड़ी सड़कों को सिर्फ छू ही पाता है, किन्तु हमारी गली उसकी हर धड़कन पर ताल देती है। ये धड़कनें प्रकृति की विराट् गति की भी हैं और एक महानगर की विकृतियों की भी। ऋतुराज वसंत की आहट सुनते ही हमारी गली के चंद वृक्ष पहले तो झटपट अपना जामा उतारकर नग्न हो जाते हैं। बरसों पहले किसी वनस्पति विशेषज्ञ ने एक असामान्य किस्म के पेड़ गली के किनारे लगा

दिए। मध्यम ऊंचाई, बरगद के-से फल और बरगद ही की-सी जटाएं। अंतर यह कि बरगद की जटाएं धरती की ओर लटकती हैं और प्रायः नई जड़ें बन जाती है, पर इस वृक्ष की सभी जटाए उसके तने से लिपट जाती है। वसंती पतझर मे जब सब पत्ते गिर जाते है तो लगता है मानो रोमयुक्त नागों की पकड़ से त्रस्त होकर इन्होने अपने पत्ते त्याग दिए हों। पर वसंती बयार के उकसाते स्पर्श के बाद हठात् देखता हूं किशुकों के स्फुलिंग उन नंगी शाखाओं मे से फूट रहे है। श्यामल, सुकोमल और नन्हे। दो-तीन दिन बाद नवजात शिशु की रक्तिम श्यामलता गायब हो जाती है। पत्तियां धवल और फिर धीरे-धीरे हरी होती जाती है। चंद दिन वह समां रहता है और जब पुनः पत्तों से वृक्ष बदस्तूर लद जाते है तो जान ही नही पड़ता कि एक नाटक खेला गया था और तेज़ी से पट-परिवर्तन हुए थे।

वसंत के अंतिम दिनों मे मार्च की एक और भी बहार है। मार्च सरकारी दफ्तरों मे वित्तीय वर्ष—फाइनेंशल यीअर—का अंतिम महीना है। ३१ मार्च तक सड़कों की मरम्मतों के लिए बजट में जो रुपया होता है उसे जैसे भी हो, खर्च कर डालना ज़रूरी समझा जाता है। इस तरह की जल्दबाज़ी के काम में ठेकेदारों और कुछ सरकारी व्यक्तियों का भी भला हो जाता है। आजकल 'ऊपरी आमदनी' भगवान की देन नही मानी जाती; न उसे लुकाछिपी का खेल ही समझा जाता है। उसे तो अपना 'ड्यू' माना जाता है, यानी एक तरह का अधिकार।...सो ३१ मार्च के कुछ सप्ताह पहले हमारी गली के दोनो ओर बड़ी सड़कों की मरम्मत तेज़ी से शुरू हो जाती है। और हमारी गली ही तो तारकोल के पीपों, रोड़ी और ईंटों इत्यादि के लिए खुला गोदाम बन जाती है। वही झोंपड़ियां भी पड़ती हैं जिनमें मज़दूरों के परिवार बसेरा लेते हैं। बड़ी दरियादिल है हमारी गली।

गर्मियों मे हमारी गली पिछवाड़े के निवासियो के लिए रैनबसेरा हो जाती है। अंग्रेज़ों के ज़माने में नई दिल्ली गर्मियो मे उजाड़ हो जाती थी क्योकि साहब लोग शिमले की ठंडक का लुत्फ़ उठाने चले जाते थे। लेकिन आजकल नई दिल्ली मे अंग्रेज़ी साहबों से कहीं अधिक

संख्या में अमीर लोग रहते हैं—वे, जिन्होंने देखते-देखते कोठियां और अट्टालिकाएं खड़ी कर ली हैं, जिनके पास दौलत अमित है और जिनके दिमाग सरकारी टैक्सों से बचाव की तदबीरों की पैदावार उगाते रहते है, और साथ-साथ जिनकी वाणी सरकारी टैक्सों पर तोहमत लगाते सकुचाती नहीं। ये नये ज़माने के साहब लोग विदेशी डिप्लोमेटों की भांति ही नई दिल्ली से गर्मी में भाग नहीं निकलते; जमे रहते है। गर्मी की झुलसनों के मुकाबले के लिए उनके पास वह हथियार है जो अंग्रेजी राज के दिनों मे नसीब न था—एअरकंडीशनर। उनकी ठाठदार कोठिया बाहर से सुनसान और धूप की जकड़ में बेआवाज तड़पती जान पड़ती हैं, किन्तु भीतर कमरे गुलजार होते हैं। दिन और रात ठंडी हवाओं की बांहों में गुजरते हैं।

बाकी लोगों के लिए खुला आसमान ही आसरा है। नई दिल्ली में गर्मी की रातों में अक्सर यह आसमान मानो मधुवर्षण करता है। हमारी गली के निवासी उस मधुलेपन का खूब आनंद लेते हैं; खटियां बिछ जाती हैं गली के दोनों तरफ ! सवेरे घूमने निकलते समय देखता हूं, पिछवाड़े के क्वार्टरों की छतों के ढलानों पर बिस्तर बिछाने वालों में जीवट की कमी नहीं। ज़रा ज्यादा करवट ली तो नीचे। पर मई मास की रातों मे भी शीतल बयार का जो स्पर्श इन्हें मिलता है वह एअरकंडीशन्ड कमरों में नही है।

बरसात आते ही हमारी गली में सोंधी-सी गंध फैलने लगती है। हरियाली तीज के आसपास जगह-जगह झूले पड़ जाते हैं। इधर उनके गीत गूंजते हैं, उधर राजस्थान की मजदूरनें काम से लौटते या काम पर जाते हुए एक-दूसरे को गलबहियां दिए उच्च स्वर में गाती हैं उस मेघ के आह्लादपूर्ण गीत जो राजस्थान में आसानी से मयस्सर नही होता। नई दिल्ली का सरकारी वातावरण इनके स्वर को दबा नही पाता, यहां के नये फैशन की छटा इनपर हावी नहीं हो पाती। वही घेरदार ऊंचे लहंगे, पैरों में चांदी के कड़े, पुष्ट तन, लम्बे डग, आपस मे चुहलबाजी। सिर्फ एक ही अंतर हुआ है, उनकी सूक्ष्म चोली, जिसमे से उनके वक्षस्थल की आभा झांकती थी, ठेकेदारों और शहरी

निठल्लुओं की लोलुप दृष्टि का शिकार हो गई। नतीजा यह है कि दिल्ली मे अब राजस्थान और ब्रज की मजदूरनें लम्बी बाह की कुर्तिया पहनती है। हां, उनकी चोली नई दिल्ली की फैशनेबल महिलाओं के शरीर पर चढ़कर और भी सूक्ष्म होती जा रही है।

नवरात्रों मे हमारी गली के पिछवाड़ों मे पूर्वी उत्तर प्रदेश के धोबी और दूसरे लोग रात को दल बाधकर बैठते और उल्लास के साथ उच्च स्वरों और तीव्र लय में गाते हैं राम-कथा। चादनी रात में उनके सहगान के स्वर-समूह साकार होकर हमारी गली में मानो भीड़ लगा देते है।

जाड़ों मे हर तरह की भीड़ छंट जाती है। सवेरे के समय कड़कती ठंड मे, ठिठुराने वाला धुंधलका अक्सर इस गली को रुई का-सा जामा पहना देता है। कुहासे का जामा मेरे जैसे सवेरे की सैर के शौकीन को तो अच्छा लगता है; उसमें खो जाने में आनंद मिलता है, एक दुलराती गरमाहट का अनुभव होता है। क्यों न हो? आखिर मैं गरम लबादों से लैस होकर बाहर निकलता हूं,—स्वेटर, बंद गले का कोट, ओवरकोट, मफलर और सिर पर टोपी। किंतु गली के पूर्वी छोर में मेरे सबसे महत्वपूर्ण पड़ोसियों—धोबियों—के लिए जाड़ों की सुबह कर्म की चुनौती लाती है। उस बस्ती में धोबियो का छोटा-सा 'घाट' है; घाट यानी सीमेंट की पाटें और नल का पानी; नदी-नाला नहीं। सूरज उगने से पहले ही धोबियों की 'प्रभाती' सुनाई पड़ती है—ताल अधिक, राग कम!

यह धोबी-बस्ती हमारी गली का साइनबोर्ड है। दूर-दूर तक बांसों पर अलगनियां लगाकर ये कपड़े सुखाते हैं और जैसे वी० आई० पी० के स्वागत में पालम-मार्ग पर ध्वजाएं सजती हैं, कुछ ऐसे ही हमारी गली के एक तरफ अंडरवियरों, साड़ियों, चोलियों, कमीजों, ड्रेन-पाइप पतलूनों की ध्वजाएं दिन-भर लहराती रहती हैं। जैसे सूखनेवाले कपड़े अनेक ढंग और रंगों के हैं, ऐसे ही उन्हें धोने और सुखाने वाले धोबी। एक है हमारा बुड्ढा धोबी जो अक्सर गली के किनारे टब में नील घोलता हुआ दिखता है और जिसकी ईमानदारी और वक्त

की पाबंदी पर मुग्ध होकर हमारी बेटी की कैनेडियन सखी उसे अपने विलायती कपड़े धोने के लिए सौंप देती है। दूसरे ढंग का धोबी है वह नौजवान जिसे मैंने ओवरकोट और तंग मोहरी का टेरलीन पतलून पहनकर अलगनी पर ब्रेसियर और बुश्शर्ट सुखाते देखा है।

वस्तुतः धोबी-बस्ती और हमारी गली में बंगलों के पिछवाड़े वाली कोठरियों में बसने वाले लोग बदलती दुनिया के इंद्रधनुष हैं। इस बदलती दुनिया में पैसे की तंगी के बावजूद पैर, ऊपर ले जाने वाली सीढ़िया खोजते हैं। पिछड़े और थोड़ी-बहुत गंदगी के वातावरण में भी रहन-सहन की टीमटाम और मेहनतकश दिनों से छीने हुए अवकाश के क्षणों में आधुनिकता की छटाओं की चाह मन को उकसाती रहती है। यही वह कामना की एड़ है जिसके लगते ही उनकी कर्मठता का तुरंग इस महानगरी की भीड़, इसकी दमतोड़ घुड़-दौड़ों में भी अपना रास्ता निकाल लेता है और कभी-कभी सरपट भी चलता है।

नमूने ?···बीस कदम आगे बढ़कर देखता हूं। भैंस खड़ी पगुरा रही है और पास ही ड्रेसिंग गाउन पहने एक नौजवान चारा डाल रहा है। भैंस और ड्रेसिंग गाउन।···सवेरे सात बजे के करीब धोबी-बस्ती में से एक मोटी प्रौढ़ा मेहतरानी निकलती है। साफ-सुथरी साड़ी, आंखों में सुरमा, पैरों में जूता, आत्मविश्वास-भरा व्यक्तित्व ! हाथ में न झाड़ू, न कोई और पदार्थ जिससे उसका व्यवसाय जाहिर हो। साइकिल लिए एक युवक आता है और बड़ी चुस्ती के साथ मोटी मेहतरानी साइकिल के पीछे वाले कैरियर पर झट से बैठ जाती है। साइकिल चल पड़ती है उस आधुनिक भवन की ओर जहां के बाथरूमों की वह इंचार्ज है। उस मोटी मेहतरानी और उस युवक का आपसी रिश्ता क्या है ? मां ? सहचरि ? प्राण ? कौन जाने ?

एक आउट हाउस के सामने खटिया पर तहमद पहने बैठा हुआ एक व्यक्ति चाय पी रहा है। खटिया के एक कोने पर नीली स्मार्ट वर्दी और टोपी रखी है और पास ही में खड़ी है एक बड़ी ठाठदार इम्पोर्टेड गाड़ी जिसपर डी० एल० जेड० लिखा है। उसकी आरामदेह

'अपहोल्सटरी' बाहर ही से चमक रही है। कैसी अनोखी है खटिया और डी० एल० जेड० की वह जोड़ी ?...गली के दूसरे छोर पर एक स्कूल है; उसकी अपनी अट्टालिका है। बढ़िया भवन, खेलने का मैदान। उस मैदान मे दोपहर मे लड़के-लड़कियां खेलते है वॉली बाल, बैडमिंटन, टेनीकोइट वगैरह। बैंड के साथ ड्रिल करते है। गली की तरफ स्कूल का दरवाज़ा बंद है पर बाहर से सब कुछ दीखता है। दरवाज़े पर लटक-लटककर मेरी गली के चंद गरीब बच्चे लालच-भरी निगाहों से अपनी बराबर की उम्र के समृद्ध बच्चो के खेल-तमाशे देखते हैं। मैं उनकी पीठ के अंग-संचालन ही से अंदाज़ा लगाता हूं कि कितनी बेताबी है उनमे। स्कूल खत्म होते ही गली के बच्चे दरवाज़े से चढ़-कर स्कूल के कम्पाउड में घुस जाते है और जब तक चौकीदार उन्हें भगा नही देता, खेल-कूदकर अपनी हविस पूरा करते हैं।

गली मे भी उनके खेल-कूद की हलचल और निरालेपन से मैं परिचित हूं। धरती पर आयताकार खाने खिच जाते हैं। खानों मे कंकड़ फेंके जाते है। एक टांग से उछलकर बाज़ी जीतने वाले बच्चे एक खाने से दूसरे मे कूदते हैं। गिल्ली-डंडा की भी कई टोलियां हैं। साइकिल के पुराने टायरो को गली में दूर-दूर तक घुमाने की भी होड़ होती है। स्कूल के अन्दर आर्ट मास्टर छात्रो को ड्राइंग और पेंटिंग सिखाते हैं। बाहर स्कूल ही की दीवारो पर गली के बच्चे चॉक से तरह-तरह के चित्र खीचते हैं, सजीव रेखाएं, स्वाभाविक अभि-व्यंजना! फूल-पत्ती; दौड़ता बच्चा, सिगरेट पीता हुआ चेहरा। इन लाजवाब चितेरों की पहुंच शायद अभी तक 'शंकर्स विकली' की प्रति-योगिता तक नही हो पाई है।

उस भव्य स्कूल के बच्चों से कम नही है पढ़ने की चाह गली के बच्चो मे। सवेरे स्कूल जाते बच्चों को देखता हूं। बंगलों, गली के पिछवाड़े की कोठरियों और धोबी-बस्ती के लगभग सभी बच्चे अपने-अपने स्कूल, अपने-अपने ढंग से जाते हैं। अधिकतर बंगले वाले बच्चों को उनकी [मां या पापा अपनी मोटर मे उन्हे बड़ी सड़क के स्कूली बस-स्टॉपों पर छोड़ आते हैं। कुछ को साइकिलों के पीछे या आगे

मठाकर नौकर वहां ले जाते हैं। अंग्रेज़ी स्कूल की रंगीन और स्मार्ट कट की पोशाक, टाई, बढ़िया लेकिन भारी बैग। बस-स्टॉप पर खड़े हुए अपनी खास बस के मुंतजिर ये बच्चे प्रायः अंग्रेज़ी में बातचीत करते सुने जाते हैं। देसी स्कूल में जाने वाले बच्चे दो तरह के हैं; कुछ जिनकी पोशाक उनके स्कूलों के विशिष्ट रंगों की हैं; किन्तु पुरानी और घिसी हुई हैं, कुछ जो म्युनिसिपल स्कूल जाते हैं और पोशाक की कोई बंदिश उनपर नहीं; बड़ों की उतरनें पहने, जिन्हें छोटा करके मां ने पहना दिया है। छोटे-बड़े लड़के-लड़कियों की मंडलियां गली में होकर निकलती हैं तो रस्ता जगमगा उठता है। एक मजे की तरकीब भारी बस्तों को ढोने की दीख पड़ी। थैले की पट्टी को माथे के सहारे करके उसे पीठ पर लटका लेते हैं, जैसे पहाड़ी माताएं अपने शिशुओं को बांधती हैं। उनकी आंखों में चमक, उनके कदमों में चांचल्य, उनकी बोली में चिड़ियों की चहक होती है। उनमें कुछ गालियां भी देते हैं, झगड़ा भी करते हैं। म्युनिसिपल स्कूलों के छोटे बच्चे तख्तियां भी ले जाते हैं। सर्दी की एक सुबह देखा। अपने छोटे भाई का हाथ पकड़े एक लड़की चली जा रही थी। तख्ती पकड़ते-पकड़ते लड़के का नन्हा हाथ ठंड से जकड़-सा गया। बहन भाई का हाथ अपने होंठों के पास ले गई और मुंह की भाप से उसे गरम करने लगी।

अक्सर भागना पड़ता है बच्चों को। मोटरों और स्कूली बसों में जाने वाले बच्चों के पास रिस्टवाचें है, पर और बच्चे अक्सर मुझ जैसे टहलने वालों से समय पूछते हैं। और भी लोग मुझसे वक्त पूछते हैं,—सड़क पर झाड़ू देने वाला जमादार, फेरी करने वाला दुकानदार, किसी दफ्तर की ओर तेज़ कदम बढ़ाने वाला चपरासी! वक्त बताना मेरा कर्त्तव्य है और जिस दिन कोई पूछनेवाला नहीं मिलता तो सूनापन महसूस होता है।

पर इसके अलावा मैं गली में से गुज़रता हूं बिल्कुल अछूता-सा। मैं केवल द्रष्टा हूं, गली की दुनिया का जुलूस चलता रहता है और मैं मात्र देखता हूं, कभी सीधे, कभी कनखियों से! जिज्ञासाएं उठती हैं, पर मैं पूछ नहीं पाता।···कौन है वह खाकी बंद गले का कोट-पतलून

पहने मूछोंवाला अधेड़ जो रोज सवेरे एक ही समय हाथ में कटोरदान संभाले पैदल जाता है ? क्या कटोरदान में उसका अपना नाश्ता है या उसके मालिक का ?…कूड़ाघरों में गंदगी के बीच, बीन-बीनकर कागजों के छोटे-बड़े टुकड़े निकालकर अपने बोरे में भरने वाला यह मजदूर किस पेपरमिल के ठेकेदार को अपना बोझा बेचता है ? कितनी है उसकी आमदनी ?…वह शोख लड़की जो तंग मोहरी का पाजामा पहने, कुछ मटकती-सी, कुछ किलकती-सी, धोबी-बस्ती से निकलकर बड़ी सड़क में मुड़ जाती है, कहां जाती है ? क्या उसका कोई चहेता है जिसकी याद उसे गुदगुदाती है या वह चहेते की तलाश में मर्दों को निरखती और शोभा बखेरती है ? उस कोठरी की खिड़की की सलाखों के सहारे अपना गोरा मुखड़ा टेके यह सुंदरी गढ़वाली है या नेपाली ? क्या उसका शरीर भी उतना ही सुडौल है जितना तीखा है उसका नाक-नक्श ? वह व्यक्ति जो नौकरों के बाथरूम की दीवार के तले खटिया बिछाए तीन-चार बच्चों को पढ़ा रहा है, उन बच्चों को स्कूल क्यों नहीं भेजता ? अथवा क्या यह प्राइवेट ट्यूशन करता है ? स्टेन-लेस बर्तन बेचनेवाली ये दो चपल मराठी औरतें जिनके कसे बदन की आभा उनके बरतनों से ज्यादा चमकदार है, मेरे पड़ोसी के पीतल के साइनबोर्ड को इतने ध्यान से क्यों देख रही हैं ? क्या मेरे पीतल के साइनबोर्ड को ये ही तो नहीं उड़ा ले गईं ? साइकिल के आगे-पीछे दूध के कनिस्टर लादे, आंखों पर चश्मा, एक हाथ हैंडिल पर, दूसरा पुराने ढंग के भोंपू पर रखे, यह अधेड़ उम्र का जेन्टलमैन दूधवाला जिसपर दिल्ली दुग्ध योजना अभी तक कारगर नहीं हुई, किस नल का पानी अपने दूध में मिलाता है ? जब उसके भोंपू की आवाज सुनकर बच्चे और औरतें तरह-तरह के गिलास और लोटों में दूध लेने आते हैं, तो क्या कभी उनकी उनसे दूध की मिलावट के बारे में तकरार होती है ?

साइकिल ही पर तो वह बुड्ढा मुसलमान (मजहबी दाढ़ी, पाजामा, अचकननुमा कोट) आता है जिसके कैरियर पर एक बड़े-से टीन के ट्रंक में मछलियां हैं । मेरे यहां धर्म से मछली बेचने आता है । कितनी बार चाहा कि पूछूं कि साइकिल चलाते वक्त वह क्या

बुदबुदाता रहता है—कुरानशरीफ की ग्रायतें या बिकी हुई मछलियों का हिसाब ? अनेक हैं जिनसे बातें हो सकती हैं,—वह गुजराती फेरी-वाला, जो मेरी पत्नी को हर पखवारे चटपटे चूड़े से भरे पोलियीन बैग पकड़ा जाता है, वह रद्दी कागज खरीदने वाला, जो 'पेपर' शब्द के घुमावदार उच्चारण द्वारा अपनी मौजूदगी जाहिर करता है, वह सिपाही की वधू, जिसे मैंने भारत-पाक लड़ाई के दिनों अक्सर भटकती आंखों से राह देखते पाया था। उस दिन राष्ट्रपति-भवन में वीर सैनिकों के सम्मान-समारोह के बाद लौटने पर देखता हूं—सामने साइकिल रिक्शा रुकी, एक फौजी जवान उतरा, कंधे पर बिस्तरा संभालकर पिछवाड़े की कोठरी की ओर बढ़ा। वधू सामने आई। यूरोप-अमेरिका होता तो प्रगाढ़ालिगन और चुम्बनों की झड़ी लग जाती। पर यहां तो एक लमहे को टकटकी लगी, क्षण-भर में संदेसे उड़े। हाथ के थैले को सिपाही ने अपनी जीवन-संगिनी को थमाया, उंगलियों की छुवन मिली। पर मैं पूछ भी न पाया कि कौन-से फ्रंट पर मौत का सामना करके लौटे हो ?

कितनी ग्राबाद है हमारी गली ? पर बिल्कुल मौन रहे मेरे सवाल ! और मैं इतने बरस गली में रहने पर भी अपनी जिज्ञासाएं साथ लिए जा रहा हूं। अनगिनत जश्न मैंने देखे इस गली में। उत्सव होते तो उन्हीं पिछवाड़े वाली खिड़कियों के चारों ओर बेलबूटों के चित्र बन जाते। धोबी-बस्ती में शादी हुई तो अर्से के बाद नई दिल्ली में पत्तल-शकोरे दीखे ! चैत में पुरबिया धोबियों और नौकरों की मंडली की ढोलक, झांझ और उल्लास-भरी चैती, भजन और कीर्तन में मेरा मन अक्सर रम जाने को उतावला हो उठता। रामलीला और रिपब्लिक डे का जुलूस देखने के लिए नये कपड़े पहने, नई मुस्कानों से जगमग मुखड़ों वाले परिवारों, बाप, मां, बेटी, बहनें, लड़के—झुंड के झुंड—जब चल निकलते तो मेरा जी करता कि अपनी मोटर से उतरकर उन्हींके दलों में शामिल हो जाऊं; उनकी सरगोशियां सुनूं, उनकी चुहलबाजी में हिस्सा लूं। गली के किनारे पर स्थित दूध बांटनेवाली 'बूथ' के बराबर से निकलते समय रोज देखता—कैसी मजेदार जमात है।

मुहल्ले-भर की ताजा खबरें, चुगली और ताने, 'स्कैण्डल' और गुपचुप शिकायतें, हंसी और चुटकियां !—मिल्कबूथ ही तो आधुनिक पनघट है। पर मैं हूं कि उस पनघट की छवि, उसके रोमांस तक पहुंच नहीं पाता।

कैसी विडम्बना है ! हम लोग बराबरी के समाज के हिमायती, अपनी लेखनी से अमीरों, अफसरों, नेताओं के लिए जहरबुझे बाण-से शब्द इस्तेमाल करने वाले लेखक और कवि, हम अपने सम्पादकीयों से पाठकों पर जादू डालनेवाले चिंतक, हम बुद्धिजीवी घुलमिल नहीं पाते उस समाज में जो हमारे करीब होते हुए भी हमसे कितना दूर है। हमारे मनोरंजन, हमारी कला-प्रदर्शनियों, अत्याधुनिकता के आग्रह में ग्रस्त हमारी विचार-ग्रन्थियां, सौंदर्य और काव्यात्मकता से हमारी ऊब, जनमानस की परंपराओं में प्रगति की धड़कन के प्रति बहरी हमारी धारणाएं, पश्चिम के सर्वग्रासी मीडियाओं से निर्मित हमारी मान्यताएं—ये सभी हैं वे अदृश्य बेडी-हथकड़ियां जो उस ओर हमें हिलने भी नहीं देतीं। हम कितने लाचार है !

गली मैं छोड़ चुका हूं। सुनता हूं कि नई दिल्ली के नवीनतम प्लान की लपेट में हमारी गली भी आएगी और ये बंगले और उनके पिछवाड़े टूटेंगे। उनकी जगह खड़ी की जाएंगी गगनचुम्बी अट्टा-लिकाएं जिनके क्रोडों में पलेंगे आधुनिक वैभव, मैन्हैटन (न्यूयार्क) के ठाठ, और धरती से ऊपर, उसके मैले आंचल से दूर, बहुत दूर ऊंची उड़ानों के तराने !

अशोक : रेडियो पर

जंबूद्वीप के कोने-कोने तक मेरी आवाज सुन पड़ रही है, लेकिन मैं जानता हूं कि मेरी राजधानी पाटलिपुत्र के निवासियों को यह आवाज अपरिचित-सी जान पड़ेगी। वे परम प्रतापी सम्राट चंडाशोक के दुर्दम, दिग्दिगन्त कम्पायमान करनेवाले भीषण स्वर को सुनने के आदी हैं। विशेषकर आज तो विजय की भेरी के उपरान्त मेरे उस अट्टहास की प्रतीक्षा कर रहे होंगे जो मौर्य साम्राज्य को चुनौती देनेवाले राजाओं और जनपदों के लिए काल के तुल्य होता है। कहां वह अट्टहास और कहां मेरा यह करुण और भग्न स्वर! उन्हें निराशा होगी और आशंका भी कि कहीं···

लेकिन नहीं! मगध के निगमो और जनपदो, पाटलिपुत्र के श्रेष्ठियो और मेरे अगणित आमात्यो एवं महापात्रो, तुम्हारी आशंका निर्मूल है। मौर्य सत्ता से टक्कर लेने की धृष्टता करनेवाला कलिंग राज्य आज मेरे चरणों के नीचे धराशायी पड़ा है। कलिंगराज के साठ हज़ार भट, एक हज़ार अश्वारोही, सात सौ हाथी—जिनके बल पर वह इतरा रहा था—सभी रक्त-रंजित भूमि पर निर्जीव या कारागार के अन्धकार में मृतप्राय पड़े हैं। जिस विजय-यात्रा पर तुम्हारी शुभ कामनाओं के साथ मैं कुछ मास हुए पाटलिपुत्र से चल पड़ा था, वह सफल हुई।

क्या तुम मेरा जयजयकार कर रहे हो? यही तो तुम करते आए हो, यही तो मैं सुनता आया हूं। लेकिन ठहरो! सैकड़ों योजन दूर,

यहां कलिंग के युद्ध-क्षेत्र तक तुम लोगों का जयजयकार मेरे कानों तक नही पहुच पाएगा। और यहा मेरे शिविर के निकट वह विजयोल्लास-पूर्ण जयजयकार करने वाले स्वर ही नही जो मैं इस आकाशवाणी द्वारा तुम्हारे निकट पहुंचा सकू। एक ऊंचे टीले पर अपने शिविर से मैं बोल रहा हूं और नीचे जहा तक दृष्टि जाती है, वहां चारो दिशाओं मे मैं देख रहा हूं—रुधिर, शव, खडित रथ और भूलुंठित गजाश्व; मृत्यु-कल्लोलिनी की रक्तिम उत्ताल तरंगें जो मानो भयावह पाषाण बन गई हैं। पाषाण की तरंगे बोलती नही, मूक और निश्चल, वे न उठती है, न गिरती है। एक आतंक के बन्धन मे वे मेरे शिविर को घेरे हुए हैं। इस विजय की वेला मे भी मैं घिरा हुआ हूं। यह सारी रणभूमि एक विपाक्त मौन से आच्छादित, घुटी-सी, दबी-सी पड़ी है, और मैं सुन पा रहा हूं केवल अपनी वाणी की प्रतिध्वनि अथवा एक करुण और कण-कणव्यापी स्पन्दन।

महाबलाधिकृत ने कुछ देर हुई, मुझे समाचार दिया कि लगभग डेढ़ लाख व्यक्ति इस महासमर मे नष्ट हुए है, सभी शव गिने नही जा के हैं, घायलों की संख्या एक लाख से ऊपर है। काल के इस प्रचण्ड त्य की लपेट मे कलिंगराज की सेना तो भस्मसात् हुई ही, मगध के गणित युवक भी पिस गए। मेरा यह बल आज विजेता होते हुए भी ण है। आहत और मारनेवाला दोनों एक रज्जु में बंधे है—आतंक र भय की रज्जु, मानो उन्होने एक ऐसे भयावह स्वप्न को देखा हो जाग्रत् होने पर भी उन्हें जकड़े हुए है। ऐसा विकट युद्ध जंबूद्वीप भी नही हुआ, उस समय भी नही जब मेरे पितामह ने यवनराज कस को पराजित किया और गान्धार और उत्तरापथ के स्कन्धा- को अधिकृत किया और न तब जब मेरे पिता के पराक्रम से ; और दक्षिणापथ के जनपद नतमस्तक हो गए थे। कलिंग के मनुष्य नही लड़े थे बल्कि संहार साकार होकर अपने-आप ही रहा था। खड्ग उठते, चमकते और गिरते थे मानो किसी अपरिमित दुर्दान्त शक्ति से संचालित होकर। कौन किस पर र रहा है, इसका भी ज्ञान लुप्त हो गया। यह किसकी जीत

भी तो नहीं जिसमें वे अपने-आपको खो सकें; उन उजड़ते हुए ग्रामों को देखकर जिन्हें विजयी सेना ने अग्नि से प्रज्वलित कर दिया है, और महासमर के उस भीतरी और अदृश्य खड्ग को देखकर जिसने इस मारकाट के नीचे उससे भी कहीं अधिक भीषण हत्या की है—प्रेम और सौहार्द की हत्या, ब्राह्मण एवं श्रमण के प्रति श्रद्धा की हत्या, माता-पिता एवं गुरु-सेवा की हत्या—हत्या, धर्म की, स्नेह की, आदर्शों की, मानवता की।

और चूंकि मैं इस आन्तरिक हत्या, रुधिर और लाशों के नीचे होने वाले इस घोर रौरव को देख पाता हूं, इसीलिए आज मैं आपसे बातें करने का साहस भी कर पा रहा हूं। यदि मैं केवल मनुष्य-शरीर की यन्त्रणा और विनाश से पीड़ित हुआ होता तो सम्भव है कि थोड़े दिनों बाद इन सबसे दूर होने पर विजय की मदान्धता मुझे पुनः इसी पथ पर अग्रसर कर देती। लेकिन कलिंग में जो कुछ मैंने देखा है वह स्थूल हत्या से कहीं अधिक क्रूर है, वह हिंसा जीव मात्र के प्रति ही नहीं, जीव जिन भावनाओं और अनुभूतियों में पनपता और बसेरा लेता है, उन सभी के प्रति घोर हिंसा है! यदि वे आस्थाएं ही विनष्ट हो गई, यदि उन अनुभूतियों, रागानुरागों का घोंसला ही भस्मीभूत हो गया तो विजयी और पराजित दोनों ही एक कटे वृक्ष की भांति धराशायी हो जाएंगे और जीवन जारी रहते हुए भी जीवन-ज्योति विलुप्त हो जाएगी।

यह विचार मुझे बल देता है और अपने चारों तरफ घिरते हुए अन्धकार को चुनौती मानकर मैं इस जीवन-ज्योति को कायम और स्फुरित रखने के लिए आज से एक नई विजय का डंका पीटता हूं। हां, मैंने यह वार्ता एक भग्न स्वर में शुरू की थी, किन्तु अब मेरी वाणी में एक नये निर्माण का आह्वान उठ रहा है। इस विश्व में अनेक चक्रवर्ती सम्राट् हुए जिन्होंने भूमण्डल को अपने चरणतल करने की ठानी; यवनराज अलिकसुन्दर ने एक तूफान के सदृश विश्व को अपनी सत्ता में समेटना चाहा। आज से मैं भी विश्वविजय करने का अनुष्ठान करता हूं। दूर-दूर तक इस विजय की भेरी सुनाई देगी, शताब्दियों की प्राचीरों को

भेदकर हमारी नवीन शक्ति प्रस्फुटित होती रहेगी। आज तक जो विजय मिली उसका मार्ग तजकर मैं प्रेम और स्नेह की विजय का मार्ग अपनाता हूं। और मैंने निश्चय किया है कि अपने साम्राज्य की सारी शक्ति और अपने तन-मन-धन और सर्वस्व को अनुष्ठान की पूर्ति में लगा दूंगा। अहिंसा के इस अभियान के लिए गुरुजनों के आशीर्वाद, विशेषकर श्रमण भते उपगुप्त की सलाह, से मैं मनुष्य मात्र के हृदय में आमूल परिवर्तन करने की चेष्टा करूंगा।

सबसे पहले मैं तथागत के सद्धर्म का उपासक मात्र न रहकर संघ की पूर्ण शरण में जाऊंगा। तदुपरांत जिन-जिन स्थानों को तथागत भगवान बुद्ध ने अपने चरणों से पवित्र किया, वहां यात्रा करूंगा; यह यात्रा मेरी शोभा यात्राओं और विहार यात्राओं का स्थान लेगी। तीसरे, मैं चाहता हूं कि अहिंसा और सद्धर्म, शील और सच्चरित्र, सर्वमतों के प्रति समभाव, संयम और भावबुद्धि, दया और अपरिग्रह, जिन्हें प्राणिमात्र जानते हुए भी विस्मृत कर जाते हैं—ये सब मेरी प्रजा और बाहर भी मनुष्यों के सामने रहें। मैं आदेश दूंगा कि मेरे साम्राज्य के सब प्रान्तों और सीमाओं में ये सन्देश शिलाओं और स्तम्भों पर अंकित किए जाएं। कोने-कोने में मानव-धर्म का यह सन्देश विकसित हो और शताब्दियों बाद भी उनसे प्रेरणा पाए। चौथे, मैं अपने निजी खानपान में मांस-मदिरा का बहिष्कार करूंगा। जीवमात्र की हत्या पर अवरोध लगाऊंगा। पांचवें, मैं साम्राज्य-भर में जीवमात्र के कष्टों का निवारण करने के लिए चिकित्सालयों का निर्माण कराऊंगा, राजपथों पर वृक्ष लगवाऊंगा, अतिथिशालाएं तैयार कराऊंगा, स्थान-स्थान पर कूप और तड़ाग खुदवाऊंगा। छठे, जो जनपद और वन्य जातियां अभी तक मेरे साम्राज्य के बाहर हैं, मैं उनपर आक्रमण न करके उन्हें प्रेम और सद्भाव से धर्म-विजय में शामिल होने के लिए आमंत्रित करूंगा। सातवें, मेरे जितने राज्याधिकारी है—महामात्र और नगर-व्यावहारिक इत्यादि—सभी का यह कर्त्तव्य होगा कि वे सद्धर्म के सन्देश का प्रचार करें और धर्म यात्राएं करें। संभव है, मैं एक नये ढंग के अधिकारी वर्ग—धर्ममहामात्रों—को भी तैनात करूं।

ग्रौर फिर यदि मेरे ये सब ग्रनुष्ठान पूरे होते गए तो तथागत का संदेश ग्रौर प्रेम एवं सौहार्द को विश्वव्यापी रूप देने के लिए मैं विदेशो में यवनराज्य, उत्तरकुरु एवं पूर्व के द्वीपों में भी सन्देशवाहकों को भेजूंगा। जम्बूद्वीप के निवासियो, मेरे हृदय मे भावों ग्रौर नूतन कल्पनाग्रो की विशाल तरगें उठ रही हैं ग्रौर मुझे लगता है कि मैं तथागत के पुण्य-संकल्प का वाहक बनूंगा। मुझे लगता है कि जिस दारुण मानसिक यंत्रणा की ग्रनुभूति मुझे हुई है, उसके पीछे भी भगवान बुद्ध की ही प्रेरणा थी। उन्होने संबोधि वृक्ष के नीचे वज्रासन पर बैठकर घो संकल्प के बाद सम्पूर्ण ग्रौर सच्चे ज्ञान की प्राप्ति की। कह नहं सकता कि सम्बोधि की प्राप्ति मुझे होगी या नही। लेकिन रुधिर ग्रौर मुण्डों की यह रणस्थली ही मेरा वज्रासन है। ग्रमिताभ के निर्वाण के ढाई सौ वर्ष बाद इस ग्रनुपम वज्रासन पर बिठाकर उन्होने मुझे ग्रन्धकार के बीच जीवन-ज्योति का मार्ग दिखाया है। मैं उसीका ग्रवलम्बन करूंगा। कलिंग का युद्ध मेरा ग्रन्तिम युद्ध है। ग्रब जो सेना मैं तैयार करूंगा उसमें जो चाहे शामिल हो सकेगा। सत्य इस सेना का खड्ग है, ग्रहिंसा बाण है, बड़ों के प्रति श्रद्धाभाव इसका संबल है, गुरु-सेवा इसके गजाश्व हैं। इसी विजय के द्वारा पारलौकिक सुख की प्राप्ति होगी ग्रौर सच्चे ग्रर्थ में देवानांप्रिय ग्रौर प्रियदर्शी कहलाऊंगा।

धम्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि
बुद्धं शरणं गच्छामि।

आटे के दीये

आप कहेंगे कि वाह साहब, क्या विषय लेकर निबंध लिखने चले हैं : 'आटे के दीये'। दीये पर ही लिखना था तो सोने या तांबे के दीपक की ज्योति दिखाते, जिसमें सौंदर्य भी हो और वैभव भी। होता वह भी बेकार। सोने या तांबे के दीप को अब कौन पूछता है ? अब तो प्लास्टिक के स्विच को छूते ही सारा कमरा जगमगा उठता है। छोटी से छोटी चीज़ का पर्दाफाश हो जाता है, ऐसे ही जैसे घुले नीले आकाश में अकेले, स्वच्छ और नीरव बादल के नन्हे-से टुकड़े का। मजाल क्या कि किसी कोने से भटकता कीड़ा भी आ जाए और उसकी हस्ती ज़ाहिर न हो। बड़ा तथ्यपूर्ण प्रकाश होता है बिजली का।

सफेदी के आईने जैसी दीवार पर ज्योति के भूखे भिखारी नन्हे, भोंडे, काले, भूरे तरह-तरह के शलभ प्राणोत्सर्ग करने को आकुल हो रेंग-रेंगकर 'बल्ब' की ओर उड़ते और टकराकर गिर पड़ते हैं। उनमें से कुछ रोषमयी भनभनाहट से व्यर्थ ही कमरे को निनादित करना चाहते हैं, मानो उन्हें अपने उन पुरखों की याद सता रही हो जिन्हें ज्योति को प्यार करने के बदले प्यार तो नहीं, मीठी फटकार तो अवश्य ही मिलती थी। अधमुंदे नयन, अंधेरे में से, जब वे एक नन्ही और नंगी लौ की ओर झपटते थे, तब उनकी तरसती आंखों को तृप्ति मिलती और कांपते परों और अंगों को जलन। उस जलन ही में तो प्यार की फटकार और मिठास मिली होती थी। प्रीतम के अनूठे स्पर्श

से अंग-अंग अनुपम आनंद से सिहर उठता था।

और अब? बेचारा साधक 'तलवार की धार पै धावनो' वाले पथ पर चलकर अमर शहीदों की श्रेणी मे सम्मिलित होने को उड़ता है। आत्मोत्सर्ग की पीडा का अभिलाषी, पाता क्या है? उसके अंग क्षत-विक्षत हो जाते है, परन्तु उन आघातो में मीठा दर्द कहां? उसके आधुनिक प्रियतम, निष्कम्प प्रियतम है, शीशे के दो-दो आवरण उन्हें ढके रहते है, ऐसे ही जैसे सावले चेहरो को क्रीम और पाउडर के पर्त। न स्पर्श की विद्युत् है, न चुम्बन की मधुरता, न अग्नि की जलन। मिलती है एक रंगहीन पारदर्शक पदार्थ से निठुर टक्कर और अंधेरे की डाइन उस छिपकली से मुठभेड़ जिसके निश्चल नेत्रों की चमक, जिसकी निर्दय, नीरव चाल, जिसके समूचे शरीर का निष्करुण संयम, उस बेचारे की मनहूस मृत्यु का सामान रचते रहते है।

और काच के कारागार मे बंद प्रीतम? क्या उसीको लक्ष्य करके महादेवी जी ने लिखा—

> 'शलभ मैं शापमय वर हूं, किसी का दीप निष्ठुर हू।
> कौन आया था न जाना स्वप्न में मुझको जगाने।
> याद में उन उंगलियों की हैं मुझे पर युग बिताने।'

बिजली के बल्ब को यह भी नसीब नहीं कि वह किन्हीं उंगलियों की याद मे युग बिताने के श्रम का आस्वादन भी पा सके। हठात् वे उंगलियां शायद बटन दबा दें और खेल खत्म!

सोने-तावे के दीप और बिजली के बल्ब—इन सभी से अलग आटे के दीयों की भी मेरे परिवार मे विशेष हस्ती है। शायद आपको आटे, अग्नि और तेल या घी का ऐसा विचित्र मेल असंगत जान पड़े। अग्नि सबसे नीचे, उसके ऊपर घी की कढ़ाई और सबसे ऊपर आटे की गोल-गोल पूरियां—यह तो क्रम उपयुक्त और उपयोगी भी जान पड़ता है। लेकिन यह उलटी विधि जिसमे अग्नि सबसे ऊपर और आटा उसके नीचे है, इसके क्या मानी?

पिछली दीवाली की सुबह ही की तो बात है। मैं अपने नियमा-

नुसार, अखबार गिरने की ध्वनि के एलार्म से उठा। अखबार की 'छोटी हाजिरी' के बाद जब मैं 'बाथरूम' में दाखिल हुआ तो देखता क्या हूं कि जहां प्रतिदिन की भांति तौलिया, साबुन, भरी बाल्टी और लोटा रखा हुआ है, वहां खजाने के संतरियों की तरह चार छोटे-छोटे आटे के दीपक भी टिमटिमाते, परन्तु अचल विराजमान हैं। मैं यह नहीं कहूंगा कि उनकी बनावट में कोई विशेष कला दरसाई गई थी। टेढ़ी-मेढ़ी आटे की छोटी-सी कुल्हियां जिनका समाप्तप्राय तेल अपनी अंतिम सांस द्वारा अपने बीच में स्थित, एक कांपती लौ का भरण कर रहा था —ऐसे थे वे चार दीपक। उनमें एक विचित्र अटल विश्वास की झांकी मिली, मानो वे मुझे चुनौती दे रहे हों, "हम तुम्हारी स्नानागार की दुनिया में अपरिचित हैं, यह हम भी समझते हैं और तुम भी। लेकिन हम यह बात अपनाएं क्यों? इस तरह हमारे व्यक्तित्व का ह्रास होगा और व्यक्तित्व का ह्रास जीवन के ह्रास से बदतर है। हम तो यहां रखे गए हैं अपने को जला-जलाकर मिटा देने के लिए। हो सकता है, तुम्हारे पानी के छींटे हमारी ज्योति को शीघ्र ही बुझा दें, परन्तु हमें उसकी परवाह नहीं है। और न हमें इस बात की ही चिंता है कि तुम्हें हमारी रोशनी की जरूरत नहीं है। हमारी सत्ता जरूरतों के परे लोकोत्तर सत्ता है।"

मानव-हृदय की अनंत जिज्ञासा से प्रेरित होकर मैंने हर दीवाली पर बचपन ही से अपने स्नानागार में आटे की दीपों की उपस्थिति का रहस्य जानना चाहा। हाल ही में कुछ अनुसंधान के बाद मुझे अपनी मां की धरोहर स्वरूप पूजाघर की पुस्तकों के बीच आज से पचास वर्ष पूर्व मेरी दादी के आदेश पर लिखी हुई एक हस्तलिखित पुस्तिका मिली—'रीतों की पोथी'। पुस्तक की भाषा सूत्र-शैली में है। छोटे-छोटे निर्देशात्मक वाक्य। 'क्यों, किसलिए?'—की गुंजाइश नहीं। उस पाण्डुलिपि का दीवाली वाला अंश इस प्रकार है: —

"बड़ी दिवाली को पहले मर्द नहा लेते है। चार चून के दीये जलते हैं। फिर औरतें सिर से नहाती है। पहले मर्द चार-चार पापड़ी, चार-चार दीवले दिवाली के सामने गोदी लेते हैं। फिर औरतें गोदी

रात में बहुत देर में पी-पाकर सोए होंगे कि तड़के ही श्रीमती जी ने जगा दिया, "उठो ! अरे सोए ही रहोगे ? अजी, दिवाली के लिए कुछ सामान-वामान भी लाना है कि नहीं ? चलो नहाओ-धोओ।" गुसलखाने में जो गए तो लोटे से टक्कर, डोल लुढ़कने लगा—रोशनी मांगी। "कहां से लाऊं ? घर में फूटा दीवट हो तो रखूं, सब तो जूए और शराब में खत्म···" और फिर लगी बौछार पड़ने। खैर, उन श्रीमती जी में शायद वह चीज रही होगी जिसे आजकल 'कामन सेंस' और प्रत्युत्पन्नमति (प्रेजेंस आफ माइंड) कहते है। रात के बचे हुए आटे को दीपक के ढांचे में ढाला और फिर उसमें मैले घी को भरा, तकिये की रुई की बत्ती बनाकर हमारे पूर्वज को अंधकार के गर्त से उबारने आ पहुंची। उन्हें क्या मालूम था कि इस प्रकार गृहस्थी की समस्या को हल करने मे ही उन्होंने एक परम्परा की स्थापना कर दी। मुझ जैसे नाचीज के लिए एक रहस्योद्घाटन की धरोहर छोड़ दी ! ···दुनिया मे सब बड़े काम अनजाने ही होते है।

बरसों से मेरी जानकारी में प्रत्येक दिवाली को यह होता आया है, और मैं उसे कुछ ऐसे ही स्वीकार करता रहा हूं जैसे सेब का पेड़ से टूटकर पृथ्वी की ओर गिरना, आकाश की ओर नहीं। इस बात पर मेरे बच्चे अक्सर मेरी और मेरी पत्नी की खबर लेते हैं। "आखिर इन बातों में 'रीज़न' क्या है, इनके तर्क क्या हैं, तुक क्या हैं ? क्यों आप लोग रूढ़ियों के सागर में उस मछली की तरह तैरते हैं जो यह जानना नहीं चाहती कि सागर का छोर किधर है। क्यों आप जीवन को शब्दों की चीज बना बैठे है, ऐसे शब्द जिनमें अर्थ हैं ही नही ? आप परिभाषाओं के स्वप्नों में जमे रहना पसंद करते हैं, हमारी पीढ़ी स्वप्नों के तथ्यों में विचरना चाहती है।"

मैं उत्तर तो नहीं दे पाता, और मेरी पत्नी के जवाब उनके चारों ओर चक्कर मारकर ही रह जाते है, पर मेरे कानों में कोई कहता है कि बात इतनी सरल नहीं है। वह जिसे हम तथ्यपरक स्वप्न मानकर सर-माथों पर रखते आए हैं, और वह जिसे परम्परा कहकर दुतकारते हैं, दोनों का आकर्षण शायद एक-सा ही है। वह आकर्षण है मानव के

लेती हैं। कढ़ी चावल होती है। चूड़ी पहिरते है। रात को पहले माता के दीये बलते है। फिर रोशनी होती है। दिवाली के आगे एक डलिया मे गूझे पापड़ी, फेनी, मठरी, सुहाली, खीलें, खिलौने रखते हैं। यह सामान पहले (तैयार) कर लेते हैं। ढोप की चीजें लड़कियें नही खाती है। चार पापड़ी और चार दीवले, एक खिलौना हटरी में रखा जाता है और कुल्हियो-चौघड़ों मे खीलें खिलौने रखते हैं। सौरती के दो बड़े दीये जलते है, वह सारी रात जलते है। कच्चे पालों में काजल परता है। लक्ष्मी जी पर रुपया-पान चिपकता है। फिर मर्द पूजा करते हैं कुल्हियो की गोदी लेते है। थाल परसा कर मिठाई आती है। लक्ष्मी जी का भोग लगता है। फिर औरतें नौ पूरी, नौ मीठे दीवलो का बया मसती हैं। रुपये से दुअन्नी तक मंस सकते हैं। औरतें भी कुल्हियो की गोदी लेती है। फिर कहानी होती है। फिर सरक कर देहली पै आ जाते है। देहली पर लड़किया लीपकर चौक लगाती है। चार चिराग जला-कर रखते है। दस सुहाली, दस दीवले, दस पापड़ी झिलमिल में रख-कर लडकियें पूजती है। बहुओं की गोदी मे देते है। बहुएं सिर से लगाती है। इसे लड़कियें नही खाती हैं। जो ब्याही लड़कियें होती है वे अपने दामों के मंगाती है। सवेरे को दलिद्दर निकालते हैं।"

इनमें से हरेक वाक्य की टीका है। लेकिन वह टीका घर की बड़ी-बूढी महिला की जबान पर थी, उनके स्मृतिकोश में, जो मौका पड़ने ही पर बहुओं और लड़कियों और कभी-कभी परिवार के पुरुषो के निर्देश के लिए खुलता था। इस बदलते जमाने मे भी मेरी पत्नी रातों की पोथी को आकारग्रन्थ (सोर्स बुक) मानती हैं और कोई माने या न माने अधिकतर रीतों का पालन करा ही लेती है।

आटे के दीयों के बारे में इस निर्देश-पत्रिका में महज दो वाक्य हैं—"बड़ी दिवाली को पहले मर्द नहा लेते हैं। चार चून के दीये जलते है।" बस! लेकिन प्रक्रिया लम्बी है; करने को बहुत है। सोचने को भी बहुत है। आखिर चून (आटे) के दीये ही क्यों जलाए जाते हैं? मिट्टी के क्यों नहीं?

मैंने अटकल लगाई। हमारे पूर्वज कोई घर के धनी तो थे नही।

रात में बहुत देर में पी-पाकर सोए होंगे कि तड़के ही श्रीमती जी ने जगा दिया, "उठो ! अरे सोए ही रहोगे ? अजी, दिवाली के लिए कुछ सामान-वामान भी लाना है कि नहीं ? चलो नहाओ-धोओ ।" गुसलखाने में जो गए तो लोटे से टक्कर, डोल लुढ़कने लगा—रोशनी मांगी। "कहां से लाऊं ? घर में फूटा दीवट हो तो रक्खू, सब तो जूए और शराब में खत्म···" और फिर लगी बौछार पड़ने। खैर, उन श्रीमती जी में शायद वह चीज़ रही होगी जिसे आजकल 'कामन सेंस' और प्रत्युत्पन्नमति (प्रेज़ेंस आफ माइंड) कहते है। रात के बचे हुए आटे को दीपक के ढांचे में ढाला और फिर उसमें मैंने घी को भरा, तकिये की रुई की वत्ती बनाकर हमारे पूर्वज को अंधकार के गर्त से उबारने आ पहुंची। उन्हें क्या मालूम था कि इस प्रकार गृहस्थी की समस्या को हल करने में ही उन्होने एक परम्परा की स्थापना कर दी । मुझ जैसे नाचीज़ के लिए एक रहस्योद्घाटन की धरोहर छोड दी ! ···दुनिया मे सब बड़े काम अनजाने ही होते हैं ।

बरसों से मेरी जानकारी मे प्रत्येक दिवाली को यह होता आया है, और मैं उसे कुछ ऐसे ही स्वीकार करता रहा हूं जैसे सेब का पेड़ से टूटकर पृथ्वी की ओर गिरना, आकाश की ओर नही । इस बात पर मेरे बच्चे अक्सर मेरी और मेरी पत्नी की खबर लेते हैं । "आखिर इन बातों में 'रीज़न' क्या है, इनके तर्क क्या हैं, तुक क्या हैं ? क्यों आप लोग रूढ़ियों के सागर में उस मछली की तरह तैरते हैं जो यह जानना नहीं चाहती कि सागर का छोर किधर है । क्यों आप जीवन को शब्दों की चीज बना बैठे हैं, ऐसे शब्द जिनमें अर्थ हैं ही नहीं ? आप परिभाषाओं के स्वप्नों में जमे रहना पसंद करते हैं, हमारी पीढ़ी स्वप्नों के तथ्यों में विचरना चाहती है ।"

मैं उत्तर तो नहीं दे पाता, और मेरी पत्नी के जवाब उनके चारों ओर चक्कर मारकर ही रह जाते हैं, पर मेरे कानों में कोई कहता है कि बात इतनी सरल नही है । वह जिसे हम तथ्यपरक स्वप्न मानकर सर-आंखों पर रखते आए हैं, और वह जिसे परम्परा कहकर दुतकारते हैं, दोनों का आकर्षण शायद एक-सा ही है । वह आकर्षण है मानव के

मन मे संजोई जानी-अजानी कविता का। परम्परा अजानी कविता है, स्वप्न जानी हुई। क्या इनमें से किसी एक को त्यागना जरूरी है? क्या दोनों की गलबंहियों के सहारे मैं टिका नही रह सकता?

मुश्किल जान पड़ता है। भारत के शहरी समाज ने करवट ले ली है। वे सभी उत्सव, रीतियां और रिवाज जो भरेपुरे परिवारों और एक-दूसरे से जुड़े सम्बन्धियों, पड़ोसियो एवं समाज का आपस में गठबधन किए हुए थे, पतझर के पत्तों की तरह निश्शब्द गिर गए। "द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र!"

जीर्ण पत्र!···फिर कोई मेरे कानो मे कहता है कि यह अर्धसत्य है! यह पतझर सर्वव्यापी नही है, शायद मौसमी भी नही है। पत्ते उन्हीं वृक्षो के सूख गए है जिनकी जड़ो को शहर की पक्की काली सड़कों के तारकोली पर्त ने ढक लिया है। वहा न जलसिंचन है, न रससंचार। लेकिन शहर के मध्यवर्गीय सीमित क्षितिज के परे उससे कही बड़ी दुनिया है जिसकी हस्ती को मिटाने के लिए शहर कमर कस रहा है, थोड़ा-बहुत सफल भी हुआ है। पर ग्रामीण जनजीवन की परम्पराशील प्राचीरें विलक्षण उल्लास का सहारा पाकर गिर-गिरकर खड़ी हो जाती हैं। कभी-कभी कोई दीवाना आता है—जवाहरलाल की तरह—और ग्रामीण एव जगल के नृत्यों के प्रदर्शन के लिए अखिल भारतीय राष्ट्रीय लोकनृत्य समारोह का सूत्रपात करके मानो गिरती दीवारों को नई जिंदगी देता है। आखों में चमक आती है, नूपुरो मे थिरकन और खोता हुआ आत्मविश्वास स्फुरित होता है। हाथ मलते रह जाता है शहर।

पर आधुनिक नागर सभ्यता के तत्र और तदबीर भी साधारण नही हैं। दीवाली ही को लें। आधुनिक शहरी संस्कृति ने दीपों की अवली को नही त्यागा। पर मिट्टी के दीपो की जगह लेने लगी बिजली की बत्तिया। मुझसे लोग कहते हैं—"अजी साहब, बड़े तेल के दाम भी मालूम हैं? किसके पास पैसा है जो तेल के चिराग जलाए।" मन ही मन मैं सोचता हूं—उन कीमती आतिशबाजियों, पटाखों, एटम बमों के लिए रकम तो है जो दीवाली की परंपरागत शालीनता की

धज्जियां उड़ाते हैं। और उन बदरंग रुचिविहीन बल्बों की लड़ियों के लिए नोटों की कमी नहीं जो नये और आधुनिक रईसों की शान-शौकत की धाक जमाकर गांव के दीयों को आभाहीन करना चाहते हैं। कुम्हार के लिए पैसा नहीं है, तेली के लिए भी नहीं, पर उन कंपनियों के लिए है जो धमाकेदार कीमती एटम बम बनाती हैं और ठेके पर बिजली की सजावट करती हैं।

कोई लॉजिक नहीं, कोई तर्क नहीं। न तो आधुनिक शहरी धूम-धड़ाके के पीछे, न परम्परागत लोकोत्सवों के! बुनियादी तौर से दोनों दलील के परे है।

तब ? माजरा क्या है ?

यही कि समाज हमेशा अपनी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए आतुर रहा है, पहले भी अब भी। उत्सव बदले है, पर उजड़े नहीं। 'बर्थ डे पार्टी' पर हर वर्ष के नाम पर एक-एक मोमबत्ती फूंककर बुझाना, केक काटना, 'हैप्पी बर्थ डे टू यू' गाना, यह एक नया उत्सव है। दीवाली की संध्या को हटरी में खील, पापड़ी, चीनी के खिलौने रखकर 'गोदी लेना'—यह पुराना उत्सव है।

लेकिन दोनों में एक भारी अंतर है। आजकल का शहरी समाज उन रीतियों को ग्रहण करता है जो एकसां हो; सारे उत्सवों और रीतियों का पैटर्न समरंगी, समरूपी हो। पर वृहत्तर ग्रामीण समाज छोटे-छोटे परिवेशों में विभक्त होकर अलग-अलग ढंग की रंगीनियों में अपने परिवेश के अनुसार उत्सवों और मनोरंजनों में प्रकट होता था। ये परिवेश हैं कुटुम्ब, कुल, कबीलों, उपजातियों और पड़ोसियों के छोटे-छोटे समुदाय। तो क्या मैं कबीलों और जातिप्रथा के बंधनों को कड़ा और अपराजेय बनाने की आवाज उठा रहा हूं ? नहीं। मेरी नजर तो टिकी है उस मनभावन विविधता पर जो लोक संस्कृति का प्राण है।

एक और भी अंतर है। लोकोत्सव एक प्रकार का नाटक है, जिसमें समुदाय के अनेक व्यक्ति अपना-अपना पार्ट अदा करते हैं। मेरे परिवार की रीतों की पोथी में दिए गए दीवाली के उत्सव को ही लीजिए। कैसा रोचक नाटक है; मर्दों का आटे के दीपकों की छांव

लक्ष्मी का सांकेतिक चित्रण हो। यदि घर में कोई विवाह हुआ हो तो ऐसी दो आकृतियां बनाई जाती है।

मेरी पत्नी अभी भी 'दिवाली' का अंकन करती है। लेकिन जिस नाटक मे भरेपुरे संयुक्त परिवार की अनेक वधुएं और लड़कियां काम करती थी, उसे एक 'मोनोलाग' की तरह अकेली मेरी पत्नी निभाने की चेष्टा करती हैं। परिवार बंट गए और अलग-अलग नगरों में रहने लगे। देवरानियों, जिठानियों का जो जमघट हाथोहाथ सभी भूमिकाएं सम्पन्न करता था, वह अब तो शादी-ब्याह के अवसरों पर भी नहीं जुट पाता। लड़किया स्कूल-कालिज जाती है। अन्य प्रकार की व्यस्तताएं बढ़ गई हैं। आखिर 'वर्क पार्टियां', लेडीज क्लब, प्रदर्शनियां, काकटेल पार्टियां, पिकनिक और सबसे ज्यादा सिनेमा, ये सब भी तो आजकल के लोकोत्सव है।

इसलिए ताज्जुब क्या कि नगरों में रहनेवाले मध्यवर्ग के परिवारों में लोकोत्सवों के रंगमंच के आगे पर्दे गिर गए हैं। न सूत्रधार हैं, न पात्र-पात्री! रंगशाला सूनी पड़ती जा रही है।

फिर भी हमारे घर में नाटक अब भी जारी है। मुझे उम्मीद है, इस दिवाली पर भी मेरे स्नानागार में आटे के दीये जगमगाएंगे। दिवाली के आगे बैठकर हमलोग पापड़ियों और दीवलों की भेंटें ग्रहण करेंगे। घर मे कढ़ी-चावल पकेंगे। मेरी पत्नी, पुत्रवधू और पुत्री नई चूड़ियां धारण करेंगी। मेरी बेटी देहली के आगे अल्पना अंकित करेगी। कागज पर बदस्तूर दिवाली चित्रित की जाएगी और लक्ष्मी के चित्र में उनके हाथों के ऐपन से रुपया और पान चिपकाए जाएंगे। चौघड़ों में खील और चीनी के खिलौने रखे जाएंगे और भेंट में चढ़ेंगे। कच्चे दीवट पर रात-भर के काजल तैयार होगा। मिट्टी के दीयों में तेल की बत्तियां घर को आलोकित करेंगी। मेरी पत्नी अपनी छोटी-सी दर्शक मंडली को 'दरिद्दर' के भगाने और लक्ष्मी की अगवानी की कथा कहेंगी।

दिल्ली शहर का एक मध्यवर्गीय, आधुनिक चिंतनशील परिवार-क्यों इस तरह शंकाशून्य और निस्संकोच होकर परम्परा के आगे सम-

देने से इसलिए मना कर दिया कि उनके यज्ञ-तप में विघ्न पड़ता। तब वंशी की टेर उठी। गोपमंडली ने गृहलक्ष्मियों के आगे हाथ पसारे। और वे दौड़ पड़ीं। शुद्धतावादी ब्राह्मणों ने लाख रोका अपनी पत्नियों को, पर वे न मानी। कृष्ण और उनके सखाओं के आगे नाना व्यंजनों के ढेर लगा दिए।

ब्रजवासी कृष्ण की कथाओ के पीछे एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य छिपा है। प्राचीन वैदिक आर्य ऋषि काफी अर्से तक कट्टर रहे। किन्तु उनकी स्त्रियां प्रायः अनार्य रीति-रिवाजों और उससे भी अधिक अनार्य उत्सवों और उल्लासपूर्ण मनोरंजनों से विमोहित रहीं। शायद लम्बे समय तक यह संघर्ष चलता रहा। आखिर आर्य मनीषी-वर्ग पुरुषों ने समझौता कर ही लिया। कुछेक अपवादों को छोड़कर स्त्रियां घर के अन्दर लोकोत्सवों, लोक-रीतियों और कुलदेवों को कायम किये रहीं; पुरुष अपनी इड़ा को मौन करके, तर्कबुद्धि को शांत करके, मज़े से घर के अन्दर इन जश्नों में शामिल होते रहे। पर बाहर उनकी ब्रह्मसाधना जारी रही, उनका लोकोत्तर विवेक जाग्रत् रहा, उनका तर्क सजग रहा।

ऐसी विलक्षण थी हिन्दू समाज की समवाय-क्षमता! यही संतुलन सदियों तक आध्यात्म के अनवरत अनुसंधान के साथ-साथ लोक-विधियों और लोकोत्सवों की बहुरंगी विधाओं को भी बनाए रख सका।

क्या भविष्य में भी ऐसा हो सकेगा?

वे बोलते क्षण

त्रावकोर और मलाबार में कथकली का जन्म हुआ; उसी त्रावकोर की राजधानी में एक छोटे-से हॉल में उस दिन कथकली का अपूर्व प्रदर्शन देखा । कला की अपरिमित सम्भावनाओं के एक नूतन क्षेत्र से परिचय मिला । जिसे रंगीन उन्मादों का क्षितिज समझ बैठा था वह तो विविधता के सागर का किनारा मात्र है। अनंतराशि से परिपूर्ण और 'पलपल परिवर्तित प्रकृतिवेश' के प्रतिबिम्बरूप मानस की तो झलक भर देखी ।

शायद यह अतिरंजना है। क्षण का उल्लास मुझे प्रायः अतिशयोक्ति की ओर बहा ले चलता है। परन्तु सौन्दर्य-निमज्जित क्षण की विस्मृति के आगे सारे नपे झूठे हैं। ऐसे समय क्या तराजू लेकर अनुभवों का तौल करूं ?

शाम को महाराजा ने राजमहल में निमंत्रित किया था, उनसे विदा लेकर सीधे हम लोग एक छोटे-से भवन में पहुंचे । विश्वास न हुआ कि जगत्-प्रसिद्ध कथकली का प्रदर्शन ऐसे अलंकारविहीन और शोभाशून्य भवन में होगा । विशाल प्रासाद की तो कल्पना मैंने नहीं की थी किन्तु शान्तिनिकेतन के ललित स्पर्श से सुरभित और सुस्मित वातावरण में कली की भांति विकसने कला-प्रदर्शन का चित्र तो मन में था ही । किन्तु यहां न चित्ताकर्षक अल्पना थी, न रंगबिरंगी वन्दनवारें, न कमनीय कलश और न सौन्दर्यपुंज-से जगह-जगह छिटके रेखाचित्रों

ग्रौर पर्दों की छटा।

बस, दो हाथ ऊंचा पीतल का एक विशाल दीपस्तम्भ रंगमंच के बीच में दर्शकों के निकट ही स्थापित था, मानो उसकी दीप्ति में वातावरण की सारी प्रच्छन्न ग्राभा समाई हो। ग्रौर वह लौ मानो ग्रन्धेरे के मानस में साकार तेज की ललकार हो। कुहासे-सा फैला उसका मंद प्रकाश भी मानो एक चुनौती हो। कला के लिए ऐसी पश्प पृष्ठभूमि मैंने ग्रन्यत्र नहीं देखी।

मादल (एक तरह का मृदंग) बज उठा! वे दीवारें मानो इन स्वरों के प्रबल ग्राघातों को सहने के लिए बनी नहीं। राजदरबार का प्रश्रय मिलने पर भी वस्तुतः तो कथकली उन्मुक्त प्राकृतिक वातावरण में ही पनपा। तभी तो क्या मृदंग, क्या संगीत, क्या नृत्य-गति, सभी में सागर के हिल्लोल से बाज़ी लेने का उल्लास है!

मादल ग्रौर चेन्दल इन दो प्रकार के वाद्यों पर ग्राघात होते ही सारे दर्शक प्रस्तुत हो गए। यह एक प्रकार की घोषणा थी जिसे केलिकोत्तु कहते हैं। बजानेवालों को चेन्दकरण कहते है। चेन्दकरण ग्रौर गायक, सब मिलाकर लगभग छह व्यक्ति रंगमंच पर मौजूद थे और बराबर ही मौजूद रहे, ऐसे ही जैसे यूनानी नाटकों में कोरस। उनका नायक सूत्रधार की भांति था, गीतों की लड़ियां ही जिसकी रज्जु थीं!

भाषा मलयाली ग्रौर संस्कृत थी, लेकिन मैं तो मुश्किल से कुछ ही पद समझ पाया। पास में बैठे जनरल थिमय्या ने बताया कि ये जयदेव के गीतगोविन्द की कुछ पंक्तियां हैं। यह जनरल साहब भी खूब हैं, फौजी ग्रादमी लेकिन ग्रच्छे-खासे कला-मर्मज्ञ, रहनेवाले कुर्ग के हैं। मालूम हुग्रा ललित कलाग्रों के प्रति वासना उन्हें मिली ग्रपनी पत्नी से। दोनों दक्षिण भारत के मंदिरों ग्रौर कला-क्षेत्रों का भ्रमण किए हुए हैं।

प्रायः प्रत्येक कथकली ग्रभिनय का श्रीगणेश गीतगोविन्दम् के पाठ से होता है जिसे मजुधारा कहते हैं। कहां बंगाल के जयदेव, कहां मलाबार के गायक, कहां कुर्ग के फौजी जनरल। भारतीय संस्कृति

की अन्तःसलिला धारा कहां नहीं प्रस्फुटित होती ?

मंजुधारा के बाद दो व्यक्ति एक पर्दा लिए हुए आए। मुश्किल से पांच फुट लम्बा और तीन फुट चौड़ा लाल कपड़ा, उसपर सफेद धागे रश्मिजाल से टंके थे। पर्दे के पीछे वस्त्राभूषणों से सुसज्जित नर्तक जाते हुए झलके। रंगमंच तो खुला ही था और दुराव की कोई कोशिश भी न थी। वह पर्दा मानो एक बालसुलभ भुलावा हो। लेकिन गहराई से सोचा तो समझ पड़ा—सब पर्दे भुलावा ही तो हैं—छद्म ही तो हैं। लेकिन इस भुलावे में छल नहीं है—कल्पना के लिए प्रोत्साहन है, अन्तर्मुखी वृत्ति को आह्वान है। स्थूल रूप से असलियत का भ्रम न दिखाकर दर्शक को मानसिक दृष्टि से इन्द्रजाल रचने का आग्रह है।

पर्दे के पीछे दोनों नर्तकों ने क्रमशः नृत्य प्रारम्भ कर दिया। गीत भी उठा, मादल की गति भी क्षिप्र हो उठी। और पर्दा हिलने लगा मानो ताल और लय के साथ झूमने लगा हो। दर्शकों की उत्सुकता बढ़ने लगी। पर्दा नीचे कर दिया गया और अभिनय-नृत्य के दोनों प्रधान पात्र और पात्री अर्जुन और उर्वशी नज़र पड़े। मुख पर रंगों और रेखाओं की इतनी प्रचुरता थी और वस्त्राभूषण इतने विविध थे कि दर्शक की टकटकी बंधी रह जाती है। जितना ही रंचमंच सीधा-सादा था उतनी ही नर्तकों की वेशभूषा चित्ताकर्षक। सारे प्रसाधन शास्त्रीय विधि के अनुकूल तैयार किए जाते हैं। चेहरे पर पात्र के गुणों के अनुकूल गहरे रंग का लेप दिया जाता है। हरा रंग सात्विक प्रवृत्ति का द्योतक है, लाल राजसिक का, काला तामसिक का और पीले में सात्विक और तामसिक का मिश्रण होता है। पुरुष पात्र के कानों से लेकर ठुड्डी तक दाढ़ी के ढंग का सफेद लेप होता है जिसे 'चुट्टी' कहते हैं। दूर से सारी बारीकियां समझी नहीं जा सकतीं लेकिन मलाबार का तो शायद बच्चा-बच्चा एक झलक-मात्र में पात्र की वेशभूषा और प्रसाधन से उसे पहचान लेता है। विशेषता मुझे यह लगी कि कथकली में 'मेकअप' (प्रसाधन) और 'मास्क' (मुखौटे) का अपूर्व सम्मिश्रण होता है। साधारण अभिनय के 'मेकअप' में प्रतीकों और परम्परा

का समावेश नहीं हो पाता। 'मास्क' (जैसे भाऊ नृत्य मे इस्तेमाल किए जाते है) अभिनेता को भाव-भंगिमा दिखाने का अवसर नहीं देते। कथकली के पात्रों के प्रसाधन में दोनों गुण सन्निहित है।

उर्वशी की भूमिका में भी एक पुरुष नर्तक ही था, किन्तु न जाने क्यों यह बात अखरी नही। शायद भव्य वेशभूषा और प्रसाधन बहुत कुछ छिपा लेते है। कथकली में स्त्रियां भाग लेती ही नहीं। अभिनय में प्रभंजन-सा वेग और सतत पौरुष का प्रवाह चाहिए और नारी-सुलभ लज्जा की उसमें गुंजायश ही नहीं।

उर्वशी और अर्जुन की थोड़ी देर के लिए झलक मिली; गायकों ने प्रशस्तिगान किया और फिर पर्दा उठा लिया गया। यह पात्र-परिचय था जिसे 'पुरप्पदु' कहते हैं, और कथकली की विशेषता है।

थोड़ी देर बाद अभिनय-नृत्य प्रारम्भ हुआ। पात्र तो कुछ बोलते नहीं, गायकों की मंडली श्लोकों और गीतों में कथा का सूत्र जारी रखते हैं और बाकी सब नृत्य और मुद्राओं में अभिव्यंजित होता है।

उर्वशी अपनी सखी के साथ। कहती है, "मेरा मन तो उस पुरुष-रत्न ने हर लिया। तुमने उसे देखा नहीं? वे पुष्ट भुजाएं, वह उन्नत मस्तक, वे विशाल कन्धे, वह चौड़ी छाती और निर्लेप गगन-सी दृष्टि एवं मौन निमंत्रण-सी मुस्कान का वह विह्वल कर देने वाला प्रहार—क्या तुमने यह सब नहीं देखा, सखि? तो तुमने देखा क्या? मेरी आंखों में बैठकर देखो, बाहर देखोगी तो कण-कण एक दर्पण है और प्रत्येक दर्पण में वही मनमोहक मूर्ति और अन्दर···एक सिसकता सागर जिसकी व्यथा के बादल उठ-उठकर आंखों में उमड़ते है पर बरस नहीं पाते।···बचाओ न मेरी आंखों को! बताओ न, सखि, मैं क्या करूं? मैंने तो हजारों देवताओं के दिल से खिलवाड़ किया, पर इस मानव को तो छू भी नहीं सकूंगी, सखि!"

सखी बोली, "पगली! रोने-धोने से कभी प्रियतम मिलता है? वह तो मानव है, कोई देव तो नहीं जो तेरे मन की बात बिना सुने जान ले। सुवर्ण-मृग की झलक न मिलेगी तो गाण्डीव पर हाथ क्यों कर जाएगा? जा और अपनी प्रेमकथा बेझिझक हो सुना। सौन्दर्य जब

याचक बनता है तो कठोर से कठोर पौरुष पिघल जाता है।—वह देख, लालसा और वासना के पुतले अपने कनक-शरीर को तपस्या की आग में तपाने की व्यर्थ चेष्टा करते हुए यह वीरवर कितना शोभायमान प्रतीत होता है। जा न !"

उर्वशी और सखी का यह संवाद संकेतों और मुद्राओं का ही संवाद था। पीछे सूत्रधार और गायकवृंद की गगनभेदी वाणी मृदंग के तड़ितसम नाद को लांघती हुई शताब्दियों की प्रतिध्वनि-सी सुन पड़ रही थी। लेकिन मैं तो भाषा से अपरिचित था और जनरल थिमय्या दूर उठकर चले गए थे। फिर भी संवाद का तथ्य ही नहीं, मेरे सामने तो मानो शब्द ही साकार खड़े हो गए। सो कैसे ?

वाणी तो अभिव्यंजना का एक ही साधन है, अन्य साधन उससे कुछ कम नहीं—बात यह है कि कथकली में कथावस्तु और भावानुभाव प्रकट करने के लिए चार प्रकार के इंगितो का सहारा लिया जाता है। एक तो शिर के इंगित जिसमें नौ ढग हैं मस्तक झुकाने के, छः भ्रू-क्षेप के, ग्यारह दृष्टिपात के और चार गर्दन मोड़ने के। दूसरे प्रकार के इंगित होते है हाथों की मुद्राएं जिनकी चौंसठ विधियां है। इन्हीं मुद्राओं में कथकली का सारा वैभव समाया है। तीसरा माध्यम है उंगलियों के संकेत का। चौथी है अन्य इन्द्रियां जिनमें पैर, एड़ी, कमर, इत्यादि सभी मोड़े जा सकने वाले अंग शामिल है।

अगर कोई मेरे सामने यह समूचा वर्गीकरण पहले करता तो मैं शायद सोचता कि हमारे शास्त्रकारों को तो गणना और वर्गीकरण का शौक है ही; वात्स्यायन ने तो आतुर संभोग-क्रियाओं को भी वर्गीकरण के नाम पर वैज्ञानिक प्रक्रियाओं की पंगत में ला बैठाया। पर आज के अभिनय-नृत्य मे मैंने देखा कि उत्कृष्ट कला में नियमों के अनुशासन और वर्गीकरण की बारीकियों को वाहन बनाकर भी भावावेश और कथावस्तु को बिना किसी उलझन के अभिव्यक्त किया जा सकता है। शरीर का एक-एक अंग मानो जिह्वा था, और प्रत्येक अंग की एक-एक गति मानो शब्दपुंज !

दूसरा दृश्य। अर्जुन यम-दम-नियम की मूर्ति बना बैठा है।

गाण्डीव निश्चल है और अर्जुन स्वयं भी। तभी उर्वशी का प्रवेश, और फिर नृत्य, मानो वसंत की वातास अपनी मदिर सुरभि में झूमती हो। उसके बाद प्रणय-प्रदर्शन। उद्दाम वासना की कितनी सजीव अभिव्यक्ति! पहले लज्जा का गुलाबीपन जो अनुरक्ति की लाली में खो-सा गया! तब प्रणय की भीख जिसमें सारे अवरोध तिरोहित हो गए। और तब उपालम्भ की आत्मप्रवचना। उसके बाद रोष की पहली झंझा। और फिर वही याचना, "यह देखो मेरी सुवासित देह! यह तुम्हारी ही है। यह सौन्दर्य, यह लावण्य, यह रसकलश · सब तुम्हारे स्पर्श की बाट जोह रहे है। क्या इन्हें ठुकराओगे?"···चेहरे की एक-एक ग्रंथि मुखर थी! लेकिन अर्जुन!—पत्थर भी बोलेगा? उर्वशी के कर्णपुट आतुर हो उठे--शायद कठोर चट्टान द्रवित हो और निर्झरिणी की कलकल ध्वनि सुन पड़े?···लेकिन नही, निर्मम पाषाण की वाणी तो कन्दराओ से उठनेवाली गहन-गम्भीर गूंज होती है। "उर्वशी, तुम वासना की शिकार हो। तुम्हें उचितानुचित सूझ नही रहा है। मैं इस समय व्रत-बद्ध हूं; नारी का स्पर्शमात्र मुझे दूषित कर देगा।"

"व्रतबद्ध! मैंने कितनों के व्रत नही तोड़े! सुनो, प्रियतम, व्रत की तो कोई भी वेला हो सकती है, किन्तु यह वसन्त-सौरभ और प्रणय का उन्माद फिर-फिर नही जुटते। यही कनक वेला है; यह भी कोई खोने की वस्तु है। आओ न?···नही···फिर नहीं?···मेरे ऊपर कुछ तो दया करो!···देखो, मेरा सारा शरीर अंगारों का समूह है; घड़ी को भी चैन नहीं।···एक मुस्कान, एक दृष्टि, एक शीतल स्पर्श—यह भी न दोगे? मैं—देवताओं की नयन-छवि, मैं उर्वशी—तुमसे भीख मांगती हूं—प्यार का एक कण—एक, बस, एक।···क्या कहा? —साधक-व्रती के लिए रमणी की छाया भी विष है?···विष?···"

मृदंग की गति तीव्र हो चली। सूत्रधार का स्वर ऊर्ध्वमुखी हो चला। सारा वातावरण विद्युत्मय हो गया।

सहसा मृदंग तड़प उठा।

उर्वशी का मुख भीषण ज्वाला से अभिभूत दीख पड़ा; उत्तप्त इंद्रियां आग्नेय स्फुलिंग जान पड़ीं और नयनों के विशाल आकाश के

कोने से एक भयानक तूफान उठा और उसके बाद नाग के प्रखर विष से रोष के आंसू निकल पडे। कपोल फड़क उठे, भौहें तन गईं; चिबुक कठोर हो गई।...दूर से बैठा हुआ भी मैं अंग-प्रत्यंगों की एक-एक भंगिमा को देख पा रहा था। कितना अद्‌भुत व्यापार था, उर्वशी की देह थी रंगमंच और अंग-प्रत्यंग थे पात्र !...

"मूढ मानव !...उर्वशी का इतना अपमान !...तो जा, ढोंगी, तुझे शाप देती हूं—तू साल-भर तक नपुंसक रहेगा...नपुंसक !... चाहने पर भी लालसा के बादल छू न सकेगा; जिसे आज ठुकरा रहा है, उसी प्रणय के उन्माद के लिए तू तरसेगा लेकिन तेरे मिट्टी-से शरीर में यौवन की चेतना न जगेगी, न जगेगी !...और तेरे ये पुष्ट अंग, तेरे ये पौरुष चिह्न—ये मेरी आहत अभिलाषा की समाधि बनकर रहेंगे और जिसपर उगेंगे स्त्रैणता के कुसुम जिनमें नारी-सुलभ सौरभ न होगा, जिनपर भौंरे भी न उलझेंगे !...जा, मूढ़, मेरा अभिशाप तुझपर गाज बनकर गिरेगा।..."

विक्षिप्त नूपुरों की झंझा मे एक बिजली-सी चमकी और फिर उर्वशी कहा थी ?

अर्जुन अकेला रह गया।

मृदग एक लमहे के लिए थमा। लगा जैसे प्रकाश भी मंद हो गया हो। संगीत ने पल-भर को सास रोकी ! कल्पना की भी मानो टकटकी बंधी रह गई !

और फिर बास के वन में भटकी वायु के करण वंशी-स्वर की भांति अर्जुन का पौरुष कुम्हलाने लगा; कटे वृक्ष के तुल्य वह भूमिशायी होने लगा। पुरुषत्व के स्खलन का एक अद्‌भुत प्रदर्शन दीख पड़ा। धीरे-धीरे संगीत-स्वर तीव्र हो रहा था,—मानो कराहते रोगी का पीड़ित स्वर दृढ हो रहा हो ! अर्जुन के एक-एक अंग पर शिथिलता। वे हाथ मुलायम हो चले, वह कटि बांकी हो गई, वे जंघाएं स्थूल हो गईं—और...और वे विकसते उरोज !...उस दूषित भार से अर्जुन का पुरुषत्व आक्रान्त हो रहा था, लेकिन उरोज बढ़ते ही गए।... अर्जुन की वह दयनीय लाचारी, वह तड़प भी न सकनेवाली बेबसी,

ग्रौर···ग्रौर वह फैलती हुई तन्द्रा ! ···दीपक की लौ बुझने लगी; संगीत रुक गया।

मैंने सोचा, दुनिया की कला में नपुंसकत्व का इतना सजीव, इतना उदात्त, इतना दिल हिलानेवाला निरूपण ग्रौर कहीं नहीं मिलेगा। तनिक भी भद्दापन नहीं ग्रौर फिर भी कोई दुराव नहीं, कोई झिझक नहीं। भावों का इतना भीषण उद्वेलन कि उसमें हमारे दैनिक जीवन के छोटे-मोटे वैषम्य, छिछली भावुकता, कसक, डाह, इच्छा इत्यादि के रुग्ण विकार सभी ऊपर ग्राकर मानो भाप बन जाते हों। ग्ररस्तू ने नाटयकला के इसी गुण को तो 'कैथार्टिक इफेक्ट' (रेचक प्रक्रिया) की संज्ञा दी है।

एक बात ग्रौर। कथकली ग्रभिनय-नृत्य में रस परिपाक होने पर विविध भाव ही रंगमंच पर उतरते-से जान पड़ते हैं। ग्रभिव्यक्ति इतनी वेगवती, इतनी ग्रावेशपूर्ण, इतनी निर्बाध होती है कि जान पड़ता है, भावों को साकार सत्ता मिल गई हो। मेरी तो संवेदनशीलता इतनी जाग्रत् हो गई कि मुझे लगा मानो वे स्थूल भाव-मूर्तियां मुझसे टकरा रही हों। यही तो 'प्लास्टिक ग्रार्ट' की चरम ग्रभिव्यक्ति है।

लिखते-लिखते मध्यरात्रि ग्रा पहुंची। मैं सोने की तैयारी कर ही रहा था कि किसीने मेरे कमरे के दरवाज़े पर दस्तक दी ग्रौर बिना इंतज़ार किए मि० चं० ग्रन्दर ग्रा धमके। मि० चं० भी उसी कान्फ्रेंस में ग्राए हैं जिसमें मैं हिस्सा ले रहा हूं। भारी-भरकम शरीर, प्रफुल्ल चेहरा, दिल में एक ग्रजब मस्ती जिसने बुढ़ापे की सेना से लोहा लेने की अद्भुत क्षमता उन्हें दे दी है।

बोले, "सुनो भई माथुर, एक मज़ेदार बात। सोचा तो था कि कल सवेरे सुनाऊंगा लेकिन तबियत मानती ही नहीं।"

मैंने रजाई ग्रलग करते हुए पूछा, "कुछ बताइएगा भी !"

"ग्राज वाले तमाशे की बात है," मि० चं० बोले। मुझे भय हुग्रा कि नृत्यकला का स्वयं प्रदर्शन न करने लगें। लेकिन वे बैठ गए ग्रौर

बोले, "अर्जुन-उर्वशी का नृत्य-नाट्य सभी को पसंद आया, पर पश्चिमी रियासतों से वे माननीय श्री······आए हैं न ? वही," मि० चं० ने अपनी ठोड़ी और गालों की ओर संकेत किया और मैं समझ गया। 'वही महोदय अभिनय के बाद 'ग्रीनरूम' में पहुंचे और जिसने अर्जुन का पार्ट किया था उस व्यक्ति से बड़ी हैरत की मुद्रा में पूछने लगे, 'और तो सब ठीक था लेकिन यह तो बताओ कि तुमने इतनी बेवकूफी क्यों की ?'

" 'क्या बेवकूफी ?'

" 'यही कि इतनी खूबसूरत औरत को हाथ से निकल जाने दिया। जवानी का मज़ा तो लूटा ही नहीं ऊपर से जनखा होना भी मंजूर किया। क्या खूब !' "

पता नहीं उसने क्या उत्तर दिया, लेकिन मेरे और मि० चं० के ठहाके से सारा होटल अभी तक गूंज रहा है।

किसीको यह बात सुनाऊंगा तो मनगढ़ंत मानी जाएगी, मगर है सोलह आना सच।

काले आसमान में चांद

सन् १९६८ के बड़े दिन के पहले की संध्या को फ्रैंक बोरमैन और उसके दो साथियों ने महज सत्तर मील की दूरी से चांद की सतह पर दृष्टि डाली, धरती पर लाखों श्रोताओं ने उसका वर्णन सुना, लाखों ने दूरदर्शन पर देखा, "चांद का क्षितिज बिलकुल निर्वसन है, नितांत सूना। आसमान घोर काला है, सूरज बिलकुल सफेद। क्षितिज पर कुछ पर्वत उभर रहे हैं, अगणित ज्वालामुखी यानी क्रेटरों से क्षत-विक्षत हैं ये पहाड़ियां!"

उस बड़े दिन के कुछ सप्ताह बाद एक शाम को अपने दफ्तर से लौटते समय मैंने मोटर के सामनेवाले शीशे से देखा—वृक्षों की घनी डालियों के पीछे यह कौन झांक रहा है, कौन छोड़ गया इस झुरमुट में यह दमकती चांदी की बेशकीमत थाली, किस अनंत सौंदर्यराशि का कर्णफूल हमारे आसमान के कोने पर छा गया है, मेरी आंखों को किन रेशमी रजत रश्मियों की चैन भरी छुवन ठंडक दे रही है? और मैंने राहत पानेवाले यात्री की भांति सांस ली और मन में सोचा कि हमारा चांद विज्ञान की घुड़दौड़ के गुबार में खोया नहीं है, इसलिए कि हमारी कल्पना चांद की झलक पाकर अब भी मचल जाती है, हमारी अनुभूति चांद की प्रेरणा से अब भी रससिक्त हो जाती है।

लोग प्रायः कहते हैं कि विज्ञान प्रकृति पर विजय प्राप्त कर रहा है, यह अंशतः ही सत्य है, क्योंकि विज्ञान की हर विजय ही में पराभव

के बीज होते हैं। आदमी की मजबूरियां उमड़ आती हैं, सीमाओं के बंधन जकड़ जाते है और नई चुनौतियों की पुकार विजय के सिंहनाद को अनसुना कर देती है, लोगों का यह भी कहना है कि विज्ञान प्रकृति के पर्दे खोल रहा है। वह प्रकृति को अनावृत और निर्वसन कर रहा है, उसकी रहस्यमयी मुस्कान और मौन आमंत्रण के जादू को चुटकी में गायब कर रहा है, निर्मम और हृदयहीन विज्ञान का सबसे बड़ा हथियार है तथ्य और असलियत का कठोर प्रत्यक्ष, कला जिसे नकार नही सकती और न सकार ही पाती है। लेकिन बात इतनी सरल नहीं है और न कलाकार ही इतना पंगु है कि इस दीखनेवाली असलियत के परे न जा सके। आखिर विज्ञान यही तो कर रहा है कि स्थूल जगत् के विभिन्न पदार्थों को एक-एक करके मनुष्य के इतने समीप ले आए कि उसका हर हिस्सा साफ़ दीखे, उसकी हर प्रक्रिया जाहिर हो जाए। लेकिन विज्ञान किसे रोक सकता है, दूर या दूसरे कोने में खडे होकर उन्हीं पदार्थों को इस भांति देखने से कि वे चमत्कार की आभा से घिरे हुए जान पड़ें, और उनके अलंकारों की दीप्ति मन में इतनी ही मजबूती से बस जाए जितना कि तथ्यपरक अस्तित्व का विकास ?

असलियत की पकड़ शायद सबसे बड़ा भुलावा है। अगर कोई वैज्ञानिक समझता है कि प्रकृति के पदार्थों का जो तत्त्व उसने खोज निकाला है और स्थूल जगत् के जिन व्यापारों का उसने उद्घाटन किया है, वे तथ्य ही नही सत्य भी हैं, तो वह गलती कर रहा है। ऐसी गलती कई विशेषज्ञ कर बैठते हैं। तथ्य और सत्य में अन्तर है, उसी भांति जैसे रागात्मक कल्पना और विज्ञान मे। कला का आधार रागात्मक कल्पना है। कला स्थूल प्रकृति और मानव के आंतरिक जीवन को एक-दूसरे के समीप लाने की कोशिश करती है। कलाकार प्रकृति के विभिन्न अंगों में—चांद, बादल, वृक्ष, फूल-पत्तियों में वही लय-ताल खोज पाता है, जो व्यक्ति के अंतस्तल को स्पंदित कर दे। वह प्रकृति में मानव-मन की प्रतिध्वनियां भी खोजता है और उसका मौलिक संगीत भी। इस तरह वह व्यक्ति के अंतस् को प्रकृति के निकट ला पाता है जब कि विज्ञान हमें स्थूल रूप से पदार्थों और

व्यापार के बिलकुल करीब ले आने पर भी हमारे अंतस्तल से उन्हें दूर कर देता है। वह प्रकृति में व्यक्तिगत अनुभूति और आनन्द नहीं देखता, और न किसी तरह की सृजनशील प्रक्रिया ही। विज्ञान स्थूल जगत् का दर्पण है और है मनुष्य की स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नये से नये उपकरणों का बढ़ता हुआ संग्रह।

क्या सत्य की खोज की दौड़ में विज्ञान और कला बराबर है? इस विषय में वर्तमान युग के दो मनीषियों के विचारों का उल्लेख करना चाहूंगा। विख्यात कलामर्मज्ञ आनन्द कुमारस्वामी से किसीने पूछा, "कला का उद्देश्य क्या है?" "सही-सही संचारण या संप्रेषण" उन्होंने उत्तर दिया। "पर कोई भी कलाकृति किस बात का संप्रेषण कर सकती है?" इसपर कुमारस्वामी का जवाब अनूठा था। उन्होंने कहा, "कुछ लोगों को यह सत्य दुखद जान पड़ेगा, पर पते की बात तो यह है कि अधिकतर कलाकृतियां ईश्वर के बारे में हैं, ईश्वर, जिसका आजकल के शिष्ट समाज में कभी नाम नहीं लिया जाता।"

आनंद कुमारस्वामी ने जिस ईश्वर की चर्चा की वह उस सत्ता ही का नाम नहीं है, जिसे अनेक युगों में अनेक धर्मों ने स्रष्टा और सर्व-शक्तिमान घोषित किया है। उनका तात्पर्य उस अमूर्त सत्य से था जो प्रकृति में व्याप्त है और जिसको पकड़ सकने की बेचैनी ही मानव-मात्र की कलात्मक अभिव्यंजना की साधना है। इस सिलसिले में समर्थ विचारक बर्ट्रेंड रसल की मान्यता भी सुनिए। रसल ने विज्ञान की उपलब्धियों की घोषणा करते हुए कहा कि विज्ञान ने रूढ़ियों और सत्ता की जगह पर्यवेक्षण को स्थापित कर दिया। प्रकृति के बीच से 'ईश्वर' और उद्देश्य को अपदस्थ कर देना ही विज्ञान की चरम विजय है।

अगर हम इन दो महान मनीषियों की उक्तियों को अंतिम और अन्यतम उक्तियां मान लें, तो विज्ञान और कला के बीच सामंजस्य असंभव जान पड़ेगा। किन्तु गहराई से विचार करने पर प्रतीत होता है कि कुमारस्वामी और रसल दोनों ही जीवन-सत्य का उल्लेख नहीं कर रहे थे। कुमारस्वामी सौंदर्य के स्वरूप को कला की विषयवस्तु

कलाओं पर भी टेक्नॉलॉजी का प्रभाव पड़ा है। अनेक नाटकों की मंच-व्यवस्था मे बिजली और इलेक्ट्रोनिक्स का व्यवहार इस भांति किया जाता है कि अभिनय-कला को सहारा भी मिलता है और कहीं-कहीं अभिनेता दब-सा जाता है। चित्रकला मे 'कोलाज' की शैली के अलावा अन्य नाना प्रकार के प्रयोग विज्ञान के सीधे प्रभाव में लिए जा रहे है। हाल ही में कंप्यूटर द्वारा अंकों के सम्मेलन से एक नये प्रकार की चित्रकला के नमूने देखने को मिले है। इसी भांति मूर्तिकला का दायरा भी बहुत विस्तृत हो गया है। लोहे के तारों द्वारा निर्मित आकारों की मूर्तियां अब तो व्यावसायिक तौर से भी प्रस्तुत की जाने लगी है।

शिल्प-वैभव में विज्ञान का ऐसा उपयोग कला और विज्ञान में सामंजस्य की दिशा का संकेत है। रूप की प्रयोगशीलता कला के हित में है, और उसे नई गति देती है। वस्तुतः उन्नीसवी सदी के अंत में चित्रकला में जो क्रांति हुई और जिसके फलस्वरूप इम्प्रेशनिज्म का उदय हुआ, वह फोटोग्राफी के अन्वेषण के कारण ही हुई। फोटोग्राफी ने यथार्थ का हूबहू चित्रण कर कलाकार को मजबूर किया कि वह अपनी कल्पना के लिए यथातथ्य रूपों का वाहन छोड़कर प्रतीकों को खोजे या रंगों और आकारों के बिखराव एवं नूतन समीकरण का प्रयोग करे। पिछले सत्तर वर्षो से यही होता रहा है और चित्रकला में यथार्थ के चित्रण की जरूरत ही महसूस नहीं होती।

लेकिन जैसे मैंने पहले कहा है, शिल्प-वैभव कला का एक-तिहाई अंश है—ऐसा अंश जिसमे बाह्य जीवन और सामाजिक वातावरण का आग्रह प्रबल है। बाकी दो अंश—कल्पना की उड़ान और अनुभूति की सजगता, व्यक्ति मे केन्द्रित है। कलाकार का व्यक्तित्व बहुत कुछ मुक्ति का पंछी है। वह अहं की चिरजाग्रत् ज्योति है और प्रायः बाहरी प्रभावों को शलभों की भांति अपने से छूने नहीं देता। इसीलिए कलाकार की पीड़ा, उसका स्पंदन, उसका उल्लास शाश्वत क्षितिज में बसेरे लेते है। फिर भी यह मानना होगा कि आए दिन कलाकार के व्यक्तित्व पर विज्ञान की चार वर्ग की तकनीकें कम-बेशी प्रभाव डाल

विकृत कर रहा और अनुभूति की तरंगों में विविधता लाता है। किंतु इसके फलस्वरूप लोक-कला, लोकाभिव्यंजना और लोकानुभूतियों के लिए यदि हम अपरिचित बन जाएं, तो जीवन में सामंजस्य असंभाव्य हो जाएगा। सामंजस्य की खोज एक यात्रा है। यह यात्रा एक दिशा में सबसे लंबी, सबसे कठिन है, वह जो अपने अंतस् की ओर मुड़ती है। यदि कलाकार का अंतस् लोक-मानस मंगल से बिछुड़ गया, तो जीवन-दर्शन की खोज का ही शायद अंत हो जाए।

संतों की जूठन

उन दिनों देश और नगर में भारी हलचल थी। दिल्ली में जुलूस निकले थे किसी आंदोलन के सम्बन्ध में। मारामारी, कान सुन्न कर देने वाले नारे, लाठीचार्ज, सभी कुछ हो रहा था। इस शोर-शराबे के बावजूद दिल्ली ही के एक कोने में एक छोटी-सी सभा में शामिल होने का अवसर मिला। उद्देश्य था रामकृष्ण परमहंस के जीवन और संदेश का विवेचन।

आंतरिक उल्लास से प्रेरित लोगों का वह शांत समुदाय हिन्द महासागर की उच्छृंखल तरंगों के बीच विवेकानंद शिला के तुल्य मुझे जान पड़ा। "तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन!" बहुत कम लोग हैं जो शाश्वत मन की सुशीतल वार्ता, आती-जाती लेकिन गरमागरम चर्चाओं के घनघोर कोलाहल के बीच में ही, निर्लिप्त भाव से बैठकर करना चाहेंगे।

यद्यपि लड़कपन में ही रामकृष्ण परमहंस के बारे में थोड़ा-बहुत मैंने जान लिया था और सन् १९४२ से बराबर 'प्रबुद्ध भारत' मंगाता रहा हूं, तथापि उनके विषय में लिखने या बोलने की धृष्टता नहीं की थी। अल्पज्ञता के अलावा मन में सोचे बैठा था कि अध्यात्म और परलोक पर अभी से मन क्यों टिकाऊं? बुढ़ापे के लिए भी तो कुछ छोड़ना है। बुढ़ापा आने में ज्यादा देर नहीं है, फिर भी कतराता रहा हूं। लेकिन उस सभा में स्वेच्छा से बोला। क्यों?

विशाल, सीमाहीन आकाश की भांति एक महापुरुष का जीवन-वृत्त होता है। इस निस्सीम गगन के नीचे हैं हम सब लोग—मानो धरती में जगह-जगह बिखरे हुए पोखर, सरोवर और झीलें। विद्वान्, अध्येता और साधक तो बड़ी झीलों और विस्तीर्ण सरोवरों के समान हैं। मेरे जैसे असंख्य द्रष्टा छोटे-छोटे पोखरों के तुल्य है। लेकिन आखिर इन छोटे पोखरों, लघु पुष्करिणियों की भी तो एक हस्ती है, अपनी अहमियत है।···इसलिए कि परमहंस जैसे महापुरुष के जीवन का सीमाहीन आकाश बड़े सरोवरों और छोटे तालाबों के बीच अन्तर नहीं मानता। उसका प्रतिबिम्ब तो दोनों ही पर पड़ता है; दोनों ही दर्पण हैं। और मैंने अपने छोटे-से दर्पण पर पड़ी थोड़ी-बहुत झलकियों को प्रस्तुत करने की धृष्टता इसलिए की, क्योंकि उस सभा में बैठे हुए मेरे जैसे अनेक साधारण व्यक्तियों के मन-मुकुरों पर वैसी ही छोटी झलकियां पड़ चुकी हैं जो हमें सोचने को मजबूर करती हैं।

मेरी पीढ़ी—पचास और साठ वर्ष की आयु के आसपास वाले व्यक्ति—मुख्यत: नेहरू-युग की उपज है। इस पीढ़ी की एक पहचान है पुरुषार्थ और भक्ति-परंपरा के बीच द्विविधा। हम लोगों में अनेक आस्था और अनास्था के बीच अक्सर इसलिए लड़खड़ाते रहे हैं कि हमें भक्ति की तन्मयता के पीछे चेष्टाहीन सहजता का संदेह होता है। मानो कोई छलांग मारकर झट से अटारी पर पहुंच जाए। इधर दैनिक जीवन में हम देखते हैं कि छलांग मारने से काम नहीं चलता। तरह-तरह की नसैनियों और सीढ़ियों पर मेहनत के साथ कभी-कभी ठोकरें खाते हुए चढ़ना होता है। श्री रामकृष्ण का जीवन कुछ हद तक इस दुविधा का जवाब है। तन्मयता और परमहंस की चरम परिस्थिति पर रामकृष्ण उत्कट साधना के बाद पहुंचे। श्रद्धालु भक्तजनों को अडिग विश्वास है कि तन्मयता की स्थिति भगवान की देन है; उसकी कृपा—'ग्रेस'—से भक्त निरायास जीवनमुक्त हो जाता है, विश्वात्मा से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है :

> दिल के आइने में है तसवीरे-यार।
> जब चाहा गरदन झुकाई देख ली।

लेकिन वह कौन-सा ऑपरेशन है जिससे दिल में वह आईना चमकाया जा सके ? यों तो श्री रामकृष्ण के बालकपन ही में ऐसे लक्षण दीख पड़ते थे जो श्रद्धावानों की दृष्टि में परमात्मा की उसी कृपा—ग्रेस—के चिह्न थे जिसके कारण ऑपरेशन की आवश्यकता ही न थी। हो सकता है यह बात सही हो। लेकिन मेरे जैसे दुविधा वाली पीढ़ी के व्यक्ति की नज़र तो श्री रामकृष्ण के अनुभवों के दूसरे ही पहलू पर ठहरती है। अपने प्रारम्भिक जीवन में जब वे गदाधर नाम से ही जाने जाते थे, उन्होंने साधना और प्रकाश से अध्यात्म-ज्ञान की खोज और तप का रास्ता नापा। कुछ समय के लिए इस्लामी सिद्धांतों मे रमे, कुछ समय के लिए ईसाई धर्म की करुणा की फुहारो का स्पर्श पाया, फिर वेद-वेदांग, उपनिषद् इत्यादि का ज्ञान प्राप्त किया। जगन्माता काली के असंख्य सूर्यों के समान तेजस्वी आभामंडल का अन्वेषण तो करते ही रहे। अन्वेषण, ज्ञान की खोज, प्रश्नो की टोह, धर्म-विधर्म की परिधियों के परे युग-युगों, समाज-सम्प्रदायों, देश-विदेश की परम्पराओं और सम्भावनाओं को समझने का यह सिलसिला चलता रहा—कामारपुकुर गांव के एक अर्धशिक्षित नौजवान ब्राह्मण के लिए यह कितना जीवट, कितनी हिम्मत का काम था ?

मेरी धारणा है कि जान-बूझकर श्री रामकृष्ण ने ज्ञान की खोज का यह कंटीला रास्ता चुना। अनेक जिज्ञासुओं की भांति किसी एक ने उनसे एक बार प्रश्न किया कि क्या गुरु की कृपा से ही मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है ? उन्होंने उत्तर दिया, "दूध में मक्खन है—महज़ ऐसा कहने-भर से तो काम नहीं चलेगा। दूध को जमाना होगा। उसके बाद उस दही को मथना होगा। तभी तो दूध मे समाविष्ट मक्खन निकलेगा।" हम लोग जो दुविधा-भरे युग की उपज है, और हमारे बाद वाली नवोदित पीढ़ी के युवजन और बच्चे इस उत्तर मे निस्संदेह अपने युग से बहुत कुछ तालमेल पाएंगे। आजकल का नौजवान शंकाओं में रस पाता है। यदि उसे अध्यात्म की ओर खीचना है तो उसे मात्र भगवत्कृपा की लकुटी का सहारा न पकड़ाइए। उससे तो वह मुंह फेर लेगा। वह यदि शंकाओं के पथ में भटकता है, तो क्यों न हम श्री राम-

कृष्ण के इस उत्तर की याद करते हुए इसी भटकाव, कांटोंभरी राह पर पग-पग पर की उलझनों को तप का रूप दें ? कौन जाने इस तप में झुलसने में ही नई पीढ़ी की अनूठी चाह यानी चुनौतियों की चाह पूरी हो। कौन जाने कि जिस कठिन और कंटकाकीर्ण पथ को पूरा करने के बाद श्री रामकृष्ण तन्मयता की मंजिल पर पहुंचे, आजकल का नौजवान भी उसी रास्ते का दीवाना हो।

लेकिन इस प्रश्नोत्तर की 'काट' श्री रामकृष्ण ही के जीवन में से उन बीसियों प्रसंगों में मिलती है जिनमें परमहंस ही ने भगवान से सम्मिलन का जो तरीका बताया है वह है मात्र भगवान की भक्ति में विभोर होना। जैसे एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा, "इसमें लेश-मात्र संदेह नहीं कि मुक्ति सबको मिलेगी। हो सकता है कि किसीको भोजन सवेरे ही मिल जाए, किसीको दोपहर के समय, किसीको संध्या तक इंतजार करना पड़े। पर निराहार कोई नहीं रहेगा।" ऐसे ही अन्यत्र उन्होंने कहा, "भगवान को उपासक तीन प्रकार की भक्ति से आकृष्ट कर सकता है : धन-सम्पत्ति के लोभी का सम्पदा के प्रति मोह, बच्चे का अपनी मां से लगाव और पति की अपनी पत्नी पर आसक्ति। यदि इन तीनों प्रकार की आसक्तियों को भगवान की दिशा में एक साथ ही मोड़ दिया जाए तो निश्चय ही भगवान से साक्षात्कार होगा।"

आधुनिक विचार-व्यूहों में उलझा मेरा मन इतने सहज भाव से भला क्या इसे स्वीकारेगा ? शायद मेरे जैसों के हित में महेन्द्रनाथ गुप्त ने जब श्री रामकृष्ण से पूछा कि क्या भगवान के दर्शन सम्भव हैं ? तो उन्हें कुछ अधिक जटिल उत्तर मिला। श्री रामकृष्ण ने जवाब दिया, "भगवान के दर्शन अवश्य सम्भव है। उसके साधन हैं—(१) कभी-कभी एकांतवास, (२) भगवान के नाम को बारम्बार लेना, (३) भगवान का गुणानुवाद, और (४) यथार्थ और अयथार्थ में विवेक।"

मैं तो इस जवाब में तप, ज्ञान की खोज, शंकाओं का संतुलन और निवारण, तथा सीधी-सादी भक्ति—इन सभी तत्वों का मेल पाता हूं। इसीलिए यह उत्तर जटिल है, उतना ही जितनी गदाधर के

प्रारम्भिक जीवन की खोज और साधना जटिल थी। परमहंस के वाक्य, उनके सैंकड़ों उत्तर मुझे चकरा देते है, इसलिए कि दीखने में वे सीधे और सरल होते है, पर अनजाने चक्रव्यूहों के बीच हमें ले जाते है।

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें घाव करें गंभीर॥

बुद्ध और कबीर की भांति ऐसी अटपटी और गहरी वाणी की सिद्धि श्री रामकृष्ण ही ने पाई। किसीने पूछा कि क्या दुनिया के जंजाल में रहते हुए भगवत्-मिलन सम्भव है? उत्तर मिला, "तुम्हें सब कुछ त्यागने की जरूरत नहीं है। जैसे हो संसार के कार्यकलाप मे, वैसे ही अच्छे हो। दुनिया में रहकर तुम दोनों पदार्थों का रस ले रहे हो, शुद्ध सफेद चीनी का और नाना प्रकार की अशुद्धियों से भरी खाड का भी। तुम तो बड़े मजे मे हो। बस एक बात का ध्यान रखो; एक हाथ से दुनियादारी के काम करते रहो, दूसरे से भगवान के चरण थामे रहो।" स्वामी दयानंद और रामकृष्ण परमहंस की मुलाकात हुई थी। स्वामी जी एक बार उनसे बोले, "कैसे आदमी हो? रोज लोटा भी नहीं मांजते?" परमहंस ने जवाब देते हुए पूछा, "और यदि लोटा पहले से ही मजा हुआ हो तो?"

वर्तमान पीढी के बेचैन हृदय के प्रश्नों के उत्तर शायद रामकृष्ण परमहस दे पाते—उत्तर ऐसे जो प्रश्नकर्ता के मन मे अनवरत खोज की शृंखला पैदा कर दें। ऐसे गुरु रास्ता नही दिखाते, अपने साथ ले चलते है। स्वयं रामकृष्ण ने गुरु की अनुपम व्याख्या की है। "हल्की लकड़ी के टुकड़े पर बैठकर कोई पानी पर बहे तो वह टुकड़ा झट से उसे ले डूबेगा। किंतु अगर किसी भारी काष्ठ-खड पर,आदमी और पशु भी बैठें तो गहरी नदी भी पार कर लेंगे। ऐसे ही को गुरु कहते हैं।"

उस सभा मे बोलते समय मुझे याद आया कि भाषण कलकत्ते में परमहंस के ज़माने मे भी दिए जाते थे। केशवचन्द्र के भाषणों की तो धूम थी ही। किन्तु कलकत्ते में भाषणों द्वारा होनेवाली हलचल के विषय में श्री रामकृष्ण की गम्भीर प्रतिक्रिया उनकी एक उक्ति में मिलती

है। उन्होंने कहा, "कलकत्ता के लोग तो हलचल चाहते हैं।···भाषण ऐसी हलचल करते हैं। पर भाषण और वक्तृता एक बात है। एक अवतारी पुरुष के शब्द दूसरी बात है। ऐसा अवतारी पुरुष परब्रह्म के आदेश पर ही बोलता है। भाषणों को तो लोग सुनेंगे और भूल जाएंगे। लेकिन अवतारी पुरुष के शब्द युगयुगों तक गूंजते रहेंगे।"

घर लौटते समय एक विचार मन में आया। सोचने लगा—उचित तो यही है कि मेरे जैसा व्यक्ति यदि भाषण दे तो इसलिए नहीं कि सुननेवालों को कोई नई बात बताए या कोई सीख दे, बल्कि इसलिए कि अपने ही विचार स्पष्ट हों, जो दूसरों से सीखा है उसे अभिव्यक्ति के माध्यम से आत्मसात् कर सकूं। है अजीब-सी बात, लेकिन अनुभव बताता है कि कुछ लोगों को जटिल समस्याओं और गूढ़ विचारों को समझने के लिए उनके बारे में बोलना पड़ता है। कुछ के लिए भाषण वस्तुतः नाटकों के 'स्वगत' हैं, वही जिसे अंग्रेज़ी में 'थिंकिंग एलाउड' कहते हैं।

मुश्किल यह है कि अक्सर भाषण के दौरान वक्ता का इस प्रक्रिया से ध्यान हट जाता है; वह देखता है सामने दर्शक-समुदाय को जिनके चेहरे उसके वचनों की रज्जु को मानो पकड़ते जा रहे हैं, जिनकी आंखें कभी आह्लाद से भरी जान पड़ती हैं, कभी प्रभावोत्पादक उक्तियों को सकारती हैं, कभी सराहना और श्रद्धा से रससिक्त हो जाती हैं; जिनके हाथ करतलध्वनि करने को आतुर प्रतीत होते हैं। तब सारा समुदाय एक आईना मालूम देता है और उसमें वक्ता देखता है एक आदमकद तसवीर—तसवीरे-यार नहीं तसवीरे-खुद। खुदी नहीं खुद; आत्मा नहीं अहं। ऐसे में अध्यात्म और परमात्मा, भक्ति और ज्ञान-सम्बंधी भाषणों से सीखने की प्रक्रिया गायब हो जाती है। वह तो अहं, बल्कि अहंकार, का पोषक और संवर्धक बन जाता है।

"यह अहं न हो, डाक्टर साहब, तो महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति कैसे अपने कर्म को प्रगतिशील, अपने पुरुषार्थ को सक्षम बना सकता है?" मैंने घर लौटने पर डा० इंद्रसेन से पूछा। पुराने मित्र हैं; श्रीअरविंद और आश्रम की मां के प्रिय शिष्य हैं। अरसा हुआ जान-पहचान हो

गई । जब कभी दिल्ली आते हैं, मुझसे चर्चा के लिए वक्त जरूर निकाल लेते हैं। मनीषी और भक्त का ऐसा सहज सम्मिश्रण बिरलों ही में दीखता है। मुझसे स्नेह है, मेरी उलझनों से परिचित है। यह भी जानते है कि मैं आसानी से पकड़ में आनेवाला आसामी नहीं हूं।

उस सभा से लौटा तो देखा डा० इंद्रसैन मिलने आए है। उस उर्वरा मनोदशा में डा० इन्द्रसैन से वार्ता ने पोषक खाद का काम किया। यदि कर्म में कौशल और उद्योग में सिंह-सामर्थ्य के लिए अहं का उत्तेजन अनिवार्य है तब ऐसा क्यों नही होता कि कर्म की चुनौती आते ही आप ही आप अहं का उत्तेजन हो जाए ? पर अहं उभरता है तीन अवस्थाओं मे : एक है हीनता-बोध की मनोदशा, दूसरी कर्त्तव्य-बोध की मनोदशा और तीसरी कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए आतुर मनोदशा। जब किसी कारण कोई दूसरा हमारी हीनता दिखाए, या जब स्पर्धा के आवेग मे इन्द्रियां सक्रिय हों या जब लोगों से वाहवाही लूटने का अवसर मिले तो अहं प्रकट होता है। हीनता का अदृश्य-बोध ही तो हमारी लखपती बनने की लालसा, अपने दफ्तर मे सबसे अधिक तरक्की की कामना, लड़के की शादी में पड़ोसी से ज्यादा धूमधाम कराने की इच्छा को जगाता है। कर्त्तव्य-बोध भी अहं को जगाता और अग्रसर करता है। पीड़ितों की पीड़ा हरण करना मेरा कर्त्तव्य है, क्योंकि मेरे पास साधन है और मैं स्वस्थ हूं। देश के दारिद्र्य को दूर करना मेरा उत्तरदायित्व है, क्योंकि मेरे पास 'आइडियाज' हैं और सत्ता है। कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए आतुर व्यक्तित्व को (कवि, चितेरा, नर्तक, गायक किसीको भी लें) अहं का दास बनते देर नही लगती। यों अगणित रूप धर के आता है अहं, और जोर से धक्का मारता है आगे की तरफ।

ये धक्के पाकर यह तो है कि आदमी काम में जुट जाए। अनेकों जुटते हैं यानी कर्म की चुनौती पाकर अहं नहीं उभरता, बल्कि अहं की चुनौती पाकर कर्म की शुरुआत अवसर हो जाती है।

पर एक मुश्किल है। अहं का झटका दौड़ को शुरू तो कर देता है पर बराबर संभाल नही पाता। सुना है ओलिम्पिक प्रतियोगिताओं

में भाग लेने वाले खिलाड़ियों को कभी-कभी 'ड्रग' दी जाती है, शरीर में कृत्रिम बल और सामर्थ्य उत्पन्न करने के लिए। अहं का असर कुछ ऐसा ही होता है। तो क्या दवा का असर उतरते ही उत्कट इच्छा, प्रबल कामना, लालसा का ज्वार कम होते ही, अहं की शक्ति क्षीण हो जाती है? क्या मनुष्य कर्म में शिथिल हो जाता है? ···कुछ लोगों का तो यही अनुभव है। लगता है कि चाभी खत्म हो गई। पा लेने पर भी, और पा न सकने पर भी। खेल खतम; अब दूसरा शुरू करो।

सब पर यह बात लागू नहीं होती। अनेक एक बार जुट गए तो जुटे ही रहते है। लगता है अहर्निश जाग्रत् रहती है उनके अहं की लौ और उससे हर घड़ी लपटें निकलती रहती हैं, चामुण्डा के कंठमाल के प्रज्वलित दाने।

किन्तु सच तो यह है कि जिन्दगी की रोजाना की कार्रवाई में ऐसी नाटकीयता अलभ्य है। मानव के नित्यरास में रस एक ही है। कारण गौण है। गति ही तथ्य है।

वजह शायद यह है कि करते-करते काम ही में दिलचस्पी हो जाती है। रोज़ का काम, सौदा लाना, खाना परसना, फाइल पढ़कर दस्तखत करना, डाक देखना, सम्पादकीय लिखना—एक के बाद एक स्वर बजते हैं और जाने-अनजाने दिन की रागिनी तैयार हो जाती है और मानो न मानो, अच्छी लगती है। हम कहते नहीं, पर अच्छी लगती जरूर है। कर्म में व्याप्त यह अकारण 'अच्छा लगना' ही शायद अनेकों के काम में जुटे रहने के रहस्य की कुंजी है। इसे ही तो अंग्रेज़ी में कहते है, "टु गेट द किक आउट आव वर्क।"

डा० इद्रसैन मेरी बात सुनते रहे। मुझे लगा जैसे कहना चाहते हो, क्यों सब्जबाग दिखाते हो धूप में झुलसे मरुस्थल के बटोही को? पर इंद्रसैन जी कडवी नकारात्मक बात तो क्या, हल्की व्यंग्योक्ति भी नहीं कहते। अत्यंत हल्के हाथों और नफासत के अंदाज से दूसरों की उलझनों को संभालते हैं, जैसे कोई अनुभवी नर्स नवजात शिशु को पकड़ती हो। बोले, "थोड़ा और आगे क्यों न बढ़ें हम लोग? कर्म से ऊब और कर्म में दिलचस्पी—यही तो 'कुशल' है न? ···क्या भगवान

को अर्पित कर्म दिलचस्प नहीं होगा, जैसे भगवान से विमुख कर्म ऊब पैदा करने वाला ?"

और मैं भाग खडा होता हूं। डा० इंद्रसैन मेरे सामने बैठे हैं और मैं भी उनके सामने। किन्तु बैठे-बैठे ही सर पर पैर रखकर मैं भाग रहा हूं।···भगवान से भागना या भगवान का विरोध करना क्या दोनों मे कोई सम्बध है? पुराणों मे लिखा है कि विष्णु के दो द्वारपाल थे। मुनियो का तिरस्कार करने पर विष्णुलोक से नीचे धरती पर आ पड़े। एक रावण हुआ, दूसरा कुम्भकरण। कल्पकल्पातर से भगवान के विरोध के मूर्तमान स्वरूप। वही जिसे 'पैरेडाइज लॉस्ट' के कवि ने पहले भगवान का पार्षद एंजल दिखाया है और बाद मे भूतल पर स्खलित विशालकाय शैतान।···आहत अहंकार का प्रचण्ड और भयंकर स्वरूप। हिरण्यकशिपु, अहिरावण, कंस···युग-युगों से भगवान को चुनौती देने वाला मानव!

ओ मेरे अहं! मिट्टी के घट से निकले हुए स्वर! कुम्हार को चुनौती देने वाला विद्रोही स्वर तू नही हो पाएगा। तो फिर कुम्हार के चरणों ही में मडरा, जैसा परमहंस ने मेरे जैसे सैकड़ों के लिए चाहा था।

लिख रहा हूं, पर कोई पढ़ेगा? नया तो कुछ भी नही है। एक शब्द भी नहीं।

हाल ही में एक नौजवान लेखक ने टेलीफोन पर मेरी किसी पुस्तक की आलोचना करते हुए मुझे सलाह दी, "माथुर साहब, जो कुछ लिखिए 'ओरिजिनल' लिखिए—बिलकुल मौलिक। मैं तो मानता हूं कि वह लेखक ही क्या जो 'ओरिजिनल' चीज साहित्य को न दे पाए। मेरा नया उपन्यास पढ़िएगा। बिलकुल नई और नायाब चीज है।"

और एक मैं हूं। आदत से मजबूर, प्रतीक्षा करता रहता हूं कि कोई मेरे आंगन में जूठन डाले ताकि मेरा काम चले।

द्वारकाधीश की डायरी से

सन् १९३५ के आसपास 'सरस्वती' पत्रिका तथा प्रयाग के अन्य पत्रों में एक जोरदार बहस छिड़ी। प्रश्न था कि राधा स्वकीया थी या परकीया। अनेक साहित्यिक महारथी आ जुटे।

उस ज़माने के साहित्यिक वाद-विवादों में आजकल की तरह हवाई बातें कम होती थीं। अंग्रेज़ी की उतरन-स्वरूप सैद्धान्तिक और पारिभाषिक शब्दों के चक्रव्यूह में आजकल साहित्यिक द्वन्द्वों के मल्ल, प्रायः अपना सारा उल्लास और सामरिक तुमुलध्वनि खो बैठते हैं। द्विवेदी-युग के मल्ल ऐसे चक्करों में न पड़कर सीधे चोट मारते थे। उनका अस्त्र था विवेच्य लेखकों की रचनाओं और प्रसंगों के उद्धरण देकर खिल्ली उड़ाना अथवा दूसरों को लताड़ते हुए अपने मत की पुष्टि करना।

ज़ाहिर है कि ऐसे में परकीयावादियों का पलड़ा भारी बैठता। 'भागवत' से लेकर जयदेव के 'गीतगोविंद' तथा वैष्णव सम्प्रदाय के भक्त कवियों से लेकर राजदरबारों के रीति-कवियों तक अनेक रसिक-प्रिय प्रसंगों में राधा और कृष्ण की समाजवर्जित लुकाछिपी की प्रणय-लीला के वर्णन हैं।

*स्वकीयावादियों की तूती फिर भी अधिक बोली। अर्से से आध्या-*त्मिकता और अवतार की प्रतिष्ठा हिन्दू विचार-परंपरा में इस बारीकी से रम गई है कि हम लोगों को श्रीकृष्ण के हर 'अनाचार' में

सहज ही ब्रह्म और जीव की अनंत लीलाओं का ही आभास मिल जाता है। तनिक भी बेतुकापन नहीं जान पड़ता।

पिछले बीस-पच्चीस वर्षों के साहित्य में से रोमाण्टिक हीरो के रूप में श्रीकृष्ण उठ-से गए हैं। वैसे भी राम, कृष्ण और अन्य अवतारों एवं परमार्थ की गति में दिलचस्पी है नहीं। नई पीढ़ी के लिए यों ही अपने अंतर में घुमड़ने वाले दुखड़े बहुत हैं।

इन दुखड़ों के अलावा हमारे वर्तमान साहित्य में 'बेडरूम' के प्रसंगों का चस्का रीतिकालीन कवियों के पलंग-प्रसंगों से कम नहीं। पद्माकर ने जाड़े की ऋतु में गुदगुदे पलंगों पर नायिका के नीवि-मोचन के लिए जिस हाथापाई का वर्णन धड़ल्ले के साथ किया है, हमारा आजकल का कवि, नाटककार, कथाकार उन्मुक्त विवरण मे उससे बाजी मार ले गया है। आजकल लोग शिल्प-सौंदर्य और काव्य-लालित्य के फेर में नही पडते। भला हो फ्रायड और अन्य मनोविश्लेषकों का, अब तो सीधे ही जो 'काम' की बात पलंग पर होती है उसका साफ-साफ फोटो खींच दिया जाता है।

इन बेधड़क कथाओं मे अधिक प्रखर होती हैं परकीया और अबंध प्रणय-लीला की कथाएं। परस्त्री के सौंदर्य का वह आकर्षण जो दूर से ही अतृप्त लालसा को जाग्रत् करे, अब तो कायरता मानी जाएगी। इसलिए बहुत-से समसामयिक साहित्य मे असली 'पलंगतोड़' प्रसंग तो पराई के खुले आम प्रगाढ़ालिंगन के बारे मे है। वर्तमान साहित्य में कुछ लोग इसे युगधर्म मानते हैं, जिसमें बंधन तोड़ना ही काफी नहीं है, ध्वस्त बंधनों के टुकड़ों को जब तक बीभत्स शृंगार-सज्जा मे इस्तेमाल नहीं किया जाए तब तक मज़ा ही क्या!

नमूनों की कमी नहीं। हाल ही में एक अत्यंत लोकप्रिय मराठी नाटककार के उस नाटक की खूब धूमधाम रही जिसमे एक अत्यंत मर्मस्पर्शी कथानक पर वे प्रसंग थोप दिए गए थे जहां पर स्त्रियों के साथ खुलेआम रमण की झांकियां काफी तगड़ी गालियों की बौछारों के साथ प्रस्तुत की गई थीं।

लेकिन दूसरा चित्र भी देखिए। इन्हीं दिनों एक अत्यंत लोकप्रिय

पत्रिका में एक कहानी निकली। वह भी बड़ी मार्मिक थी। उसकी अन्तिम झांकी भी बेडरूम की थी। किन्तु परिणीता का पलंग। पति-पत्नी ऊबे हुए हैं और उसी ऊब की मनोदशा में 'मेकेनिक'—यंत्रवत्—दोनों के शरीर गुंथ जाते हैं—"पहले की तरह।" ये शब्द "पहले की तरह" मानो अट्टहास करते हों पति-पत्नी की रतिलीला पर। लेखक मानो डंके की चोट पर कह रहा हो—दाम्पत्य जीवन की चौखट में रतिरंग बासी और फीके रंगों का दिशाहीन बहना मात्र है। यहां वह भड़कीला रसरंग, वह उत्फुल्ल कुसुमों को नखदंशों से कुचलने का उत्तेजक उल्लास कहां मिलेगा? स्वकीया जो है।

और मेरा मन फिर कृष्ण की ओर भटकता है। ब्रजवासी नहीं, द्वारकाधीश कृष्ण। रुक्मिणी के पति। उन्हीं द्वारकाधीश की अलिखित डायरी के कुछ पन्ने हाथ लग गए। अच्छे लगे, सो प्रस्तुत हैं। प्रसंग है द्वारकाधीश कृष्ण की भुजाओं में उनकी पत्नी रुक्मिणी। मादक रात्रि। कामलीलाकुशल कृष्ण के अनूठे, अगणित,—रतिबंध!

"मेरे इस आह्लाद का कौन वर्णन करेगा? प्रियतमा की नरम भुजाएं, गहन भुजमूल और वक्षोज, मानो क्षीरसागर की उन्मत्त हिलोरें—उन्नत किन्तु युगल करों के स्पर्श से वैसे ही विचलित जैसे चन्द्रमा की किरणों से उलझता ज्वार! वे कुचाग्र अंधे रतिपति के मानो अन्तर्वेधी नयन—सपलक भी अपलक भी! वह ग्रीवा, वे कपोल, धवल भी रक्ताभ भी! आह! अधरों का आमंत्रण और उनके बीच, फंसी मुस्कान की आभास्वरूप दंतपंक्ति! और वे अधमुंदे नयन, चपल जो थे पर अब विह्वल! यह मुख! रुक्मिणी, अमृत-मंथन, वह नहीं था, यह है;—मेरी शय्या तो कूर्म है, मैं ही वह मंदराचल हूं जिसका आतुर आलोड़न तुम्हारी देहसागर को व्यथित कर रहा है। और अमृत? अमृत है यह अनिर्वचनीय सौन्दर्य जो तुम्हारे मुखड़े के पोरों में से द्रवित हो रहा है। ओह, यह माधुर्य! यह लावण्य! सहस्रों चुम्बनों से भी खींच नहीं पा रहा हूं। जितना ही लेता हूं उतना ही खोता हूं। रुक्मिणी, तुम्हारी यह भंगिमा,—निमंत्रण, रसप्लावन अतृप्ति, परिमिति—क्या है यह भंगिमा?

"कवियों ने और भक्तों ने मेरे गोपीप्रेम को तो इतना बढ़ाया, लेकिन ओ मेरी चिरसहचरि, मेरे-तुम्हारे इस बंधन को किसीने समझा है ?

"आज भी उस गोपी की याद आई जिसे अपने सुकुमार भाव-बंधनों मे मैंने कभी समेटा था। उसे देखा भी—अपने गोप के साथ ! दोनों स्थूलकाय है। बड़ा कुटुम्ब, बाल-बच्चे ! कहां गई वह तरल हंसी, वह सपनों के संदेसे वाली दृष्टि, वह सुदूर वायव्य पीर ?

"*क्या, टीस हुई मेरे हृदय में ? क्या तड़ित-सी स्मृति* झकझोर कर चली गई ? नहीं ! तुम कहोगी कैसा निर्मोही है यह कन्हैया ! पर सच बताऊं ? गोपी के साथ वह प्रेम—भला कोई प्रेम था ? माना, दृष्टि-विनिमय में मीठी कसक थी। माना आते-जाते स्पर्शों में मलय के झकोरों का-सा मधुर सुख था, माना छिप-छिपकर मिलने में आह्लाद-पूर्ण रोमांच था।

"पर असल मे रोमों से नीचे तो वह प्यार गया ही नही ! कवियों और भक्तों के लिए अध्यात्म और जीवात्मा का माध्यम तो बना पर प्यार, किशोर-किशोरी का वह लुका-छिपी का खेल,—वह प्यार, त्वचा को भी पूरी तरह से स्फुरित कहां कर पाया ?

"कृतघ्न नहीं हूं और न गोपी को भूल गया हूं। अच्छी लगती है गोपी; दो बातें भी कर लेता हूं, हंसी-मज़ाक भी। पर कहीं यह सोचती हो कि स्मृति की कंदराओं मे सोई पुरानी प्रीति की *नागिन* एक साथ फुफकारकर, दंशन और पीड़ा से मुझे अस्थिर कर देती है, तो ऐसा सोचना गलत होगा।...उस बीती बात में रस नहीं है, क्योंकि तब भी उसने मुझे रसप्लावित कहां किया था ?

"रुक्मिणी, तुम्हारे प्रगाढ़ालिंगन के अमृतमंथन की कथा कभी नहीं कही गई। परकीया प्रेम को कवियों ने बहुत बखाना, पर स्वकीया अर्धांगिनी के चिरनवीन रस को कौन बताए ?"

डायरी पढ़ते-पढ़ते मुझे लगा मानो पीछे कोई अपनी खिलखिलाती हंसी को दबाने की चेष्टा कर रहा हो। मुड़कर देखता हूं एक नव-

युवक ! हो सकता है मेरा ही पुत्र हो, हो सकता है कोई नई पीढ़ी का लेखक हो। मुझे लगा कि वह मुझसे कह रहा है, "आप भी अजब भोले है। अरे यही कृष्ण फिर गया होगा सत्यभामा के कक्ष में और वहां भी वही आह्लाद, वही रसरंग ! और फिर एक-एक करके अपनी सोलह हज़ार रानियों के पास।···उससे बढ़कर रंगीला मॉडर्न कौन हो सकता है, साहब ?"

लेकिन वह नौजवान नहीं जानता कि मेरे हाथ एक कुंजी लगी है जिसकी, मेरे जैसे रोज़ी-रोटी और दैनिक झंझटों में उलझे सामान्य व्यक्तियों को बहुत ज़रूरत है। जीवन में रूमानियत महज़ असामान्यों और पथभ्रष्टों की ही बपौती नहीं है।

अब आप ही चुनिए

एक बात पहले ही साफ कर दूं।

यह लेख उस चुनाव के बारे में नहीं है जिसके द्वारा हमारी संसद् अथवा राज्यों की विधान सभाओं में पहुंचा जा सकता है। यह सही है कि 'अब आप ही चुनिए'—इन शब्दों ने १९७१ के संसदीय चुनाव में एक दलविशेष की ओर अनेक वोटरों को खींचा। इसीलिए ये शब्द अनेक पाठकों को जाने-पहचाने मालूम देंगे।

गणतंत्र में चुनने का भार जनता यानी मतदाताओं पर होता है। मनोरंजन-कलाओं (संगीत, नृत्य, नाट्य तथा मंच पर विविध प्रदर्शन) का चुनाव उनके विकास, संरक्षण-संवर्धन के लिए, उन प्रशासकों, संस्थाओं एवं धनिकों का उत्तरदायित्व है जिनके पास साधन के साथ सहृदयता भी है। सहृदयता माने रसबोध, सुरुचि, कलात्मकता और भोंडेपन को चीन्हने का विवेक। इन्हीं महानुभावों से मेरा अनुरोध है कि आप ही चुनिए।

सिनेमावाले धन्नासेठों से यह अनुरोध कैसे करूं? उनके पास तो टका-सा जवाब है, "अजी, हमें क्या चुनना है! हम तो वही मनोरंजन तैयार करते है जो 'पब्लिक' चाहती है।" पब्लिक! मेरे एक जाननेवाले है। दुकानदार। थोक माल लाते है, मुनाफे से रिटेल में बेचते है। अक्सर तबियत करती है उनकी मुनाफे के ऊपर भी मुनाफा करने की। दो ही साधन है, हठात् दाम बढ़ाना और माल में मिलावट करना।

अक्सर दोनों हरकतें करते हैं। कोई-कोई खरदिमाग पूछ बैठता है तो झट से जवाब देते हैं, "भाई साहब, मैं क्या करूं! वह जो निच्चूमल है न, सो जो माल वह देता है, वही तो बेचता हूं।" निच्चूमल कौन है, कहां रहते हैं, ऐसी बेजा बात क्यों करते है,—इसका अनुसंधान करने का झंझट भला कौन खरीदार मोल ले? सो निच्चूमल पर भुन-भुनाते हुए लोग अपना रास्ता नापते है। निच्चूमल का अस्तित्व और उनकी सत्ता का सिक्का खूब जम गया है।

पर मैं जानता हूं कि निच्चूमल उन दुकानदार महोदय के ही दिमाग की उपज हैं। निच्चूमल वह 'डस्टबिन' (कूड़ा डालने का बर्तन) है, आसानी से अपनी सारी बेईमानियों को जिसके सिपुर्द करके वह संतुष्ट हो जाते है।

और मेरा अनुमान है कि फिल्मों को 'फाइनेंस' करनेवाले धन्ना सेठों तथा कुछ फिल्म-निर्माताओं का निच्चूमल है 'पब्लिक'! बड़ा ही सुविधाजनक कूड़ाघर है यह, जिसपर वे थोपते हैं—अपना सारा भोंडापन, सारी कुरुचियां, सारा वमन। नाइट क्लबों के सीन, बेतुके तराने जो बेहिचक और बिना इजाज़त हालीवुड से चुराए गए हैं, बेहिसाब उछल-कूद और बेबुनियाद परिस्थितियां, बेसिर-पैर के कथानक—इन सभी के लिए तो जिम्मेदार है 'पब्लिक'। फिल्मों में अंधाधुंध रकमें लगानेवाले नादान धनाढ्य और भानमती का कुनबा जोड़नेवाले बेचारे निर्माता करें तो क्या करें!!

तो इसलिए भारतवर्ष में लोक-मनोरंजन के सर्वाधिक शक्तिशाली माध्यम सिनेमा के विधायकों से यह अनुरोध करने का दुस्साहस मैं नहीं करूंगा।

नाट्य, नृत्य, संगीत इत्यादि प्रदर्शन-कलाओं के विकास और प्रोत्साहन की सामर्थ्य जिनके पास है, एक प्राचीन कथा की याद दिलाकर उनसे ही यह अनुरोध करता हूं।

भरत के नाट्यशास्त्र में एक रोचक वृत्तांत है। देवताओं के कहने पर भरत मुनि ने नाट्य का विधान किया। भरत मुनि ने जब पहले नाटक 'देवासुर संग्राम' का प्रयोग प्रस्तुत किया और उसमें दैत्यों

पर देवताओं की विजय को प्रदर्शित किया तब दैत्यों ने विघ्न करके अदृश्य शक्तियों के सहारे नटों की स्मरणशक्ति, गति और चेष्टाओं को जड़ीभूत कर दिया। जैसे-तैसे करके इंद्र के 'जर्जर' नामक शस्त्र-विशेष से इन विघ्नों का शमन किया गया। जब दूसरी बार प्रयोग हुआ और उसके लिए रंगशाला तैयार कर दी गई तब प्रदर्शन के पहले ब्रह्मा जी ने समझौते के तौर पर दैत्यों के नेता विरूपाक्ष को बुलाकर उससे बातचीत की और तब उन्होंने आश्वासन दिया कि नाटक केवल देवताओं या दैत्यों के लिए ही नहीं होगा, बल्कि त्रैलोक्य-भर के भावों को प्रकट करेगा तथा गृहस्थों, दैत्यों, राजाओं और ऋषियों के चरित्र को प्रदर्शित करेगा। उसमें कही धर्म और लोकोपदेश, कहीं क्रीड़ाएं, कही धनप्राप्ति, कही शांति-प्रचार और कही युद्ध दिखाए जाएंगे। सभी प्रकार के लोगों के लिए धर्मप्रद, यशःप्रद, आयुष्यप्रद, हितकर, बुद्धि-विकासक और लोकोपदेशक होगा।

समाज के विभिन्न वर्गों के कार्यकलाप पर आधारित और सदुद्देश्यों से अनुप्राणित मनोरंजन ही लोकमानस को प्रिय रहा है। लेकिन उच्च वर्गों और नगरवासियों को न तो जनसमुदाय के कार्यकलाप मे दिलचस्पी थी और न सोद्देश्य मनोरंजन मे। इसलिए संस्कृत के गौरव-नाटक भरत के पचमवेद की संज्ञा में नही आते। मुगलकालीन 'चेम्बर' संगीत और कत्थक नृत्य का भी यही हाल हुआ। किन्तु इस बीच बराबर ग्रामों और मेलो में, मंदिरों और तीर्थ-स्थानों मे, वन्य-जातियों की क्रीड़ास्थलियों में लोकगीत, लोकनाट्य और लोकनृत्य पनपते रहे। पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारत में ये विधाएं मात्र अन-गढ़ अभिव्यक्तियां ही नही रहीं। वस्तुतः 'परिमार्जित' विधाओं की अपेक्षा, ये भरत की परम्पराओ की कही अधिक संवर्धक रही है।

गाधी जी के स्वतंत्रता-आंदोलनो मे जन-मनोरजन का उल्लास क्राति और विद्रोह के तुरीयनाद में परिवर्तित हो गया। गांव-गांव मे रागरंग के स्थान पर नारे, प्रभातफेरी के आह्वान, हुतात्माओं की याद मे गीत और आश्रम-भजनावली के पद प्रतिध्वनित होने लगे। मानना होगा कि १९२१ के बाद से एक तरह का 'प्योरिटिनिज्म' हमारे समाज

में फैल गया। त्याग की परिधि सादे कपड़ों, सादे भोजन और रहन-सहन तक ही सीमित न थी। नाच-गाना, नौटंकी और खेल-तमाशे को आत्म-बलिदान एवं संयम के वातावरण पर आधारित स्वतंत्रता-संग्राम के विपरीत समझा जाने लगा।

सन् १९४५ में उत्तर बिहार के देहाती इलाके में वैशाली के ध्वंसावशेषों की छाया में जब मैंने एक सांस्कृतिक महोत्सव का आयोजन किया तब मुझे ऐसा लगा कि मानो मैंने मरुभूमि के अंतस्तल में प्रवाहित होनेवाली शत-शत धाराओं को स्पर्श-मात्र में उमगा दिया हो। अंग्रेजी राज की गुलामी के बंधन और स्वतंत्रता-संग्राम का राग-रंग पर निषेध—सभी तो टूटते जान पड़े। सुविख्यात कलामर्मज्ञ ओ० सी० गांगुली ने एक लाख बिहारी ग्रामवासियों को सम्बोधित करते हुए याद दिलाई कि वैशाली में महामारी फैलने पर जब लिच्छवियों ने भगवान बुद्ध को आमंत्रित किया आशीर्वाद पाने के लिए, तब गंगा-तट पर वे लोग समारोह मनाते हुए स्वागतार्थ उपस्थित हुए—चार रंगों की पोशाक में, चार रंगों के अश्वों पर, चार रंगों की ध्वजाएं उड़ाते हुए। सामुदायिक आमोद-प्रमोद, नृत्य और गान, साधारण से साधारण लिच्छवि की दैनिक चर्या के अंग थे। विभीषिकाओं से आमना-सामना होने पर भी उन्होंने इस आमोद-प्रमोद को तिलांजलि नहीं दी।

सन् '४२ के आंदोलन के तीन बरस बाद का ही तो जिक्र है। अंग्रेजी राज अपने आखिरी सांस गिन रहा था। पर उत्तर बिहार के उस इलाके ने बहुत कुछ भुगता था। हरेक थाना हफ्तों के लिए आज़ादी की हवा ले चुका था। उसके बाद निर्मम अत्याचार और हुकूमत की प्रतिहिंसा ने अगणित बस्तियां उजाड़ीं, असंख्य मुस्कानें छीनीं। उस भयावह तनातनी के वातावरण में मैंने रागरंग की लय-तान क्यों छेड़ी? ···क्योंकि अनजाने ही लिच्छवियों की लुप्त परम्परा से मैंने अपने को आविष्ट पाया। मुझे लगा, तथ्य यह नहीं है कि लोक-मानस भय और अत्याचार, विनाश एवं विभीषिकाओं से ग्रस्त होने पर जड़ हो जाता है और सामुदायिक आनन्द की भावना से आलोडित नहीं हो पाता। कौन-सा भारतीय चिंतन है जो चिता की अग्नि में भी

अनंतरूपी चेतन का नर्तन नहीं देखता ?...केवल वही जिसे दासता और पराधीनता से मुक्ति की झलक नहीं दीख पड़ती। दासता की जंजीरें ही गति को अवरुद्ध, तान को मौन, लय को शून्य कर देती है। ...पर जब जंजीरें तड़कने लगती हैं, जब आजादी की आहट उषा की पगध्वनियों में मिलती है, तब लोक-मानस फिर से राग, नृत्य और नाट्य के लिए बेचैन हो उठता है।

यही हुआ। सन् १९४५ के प्रथम वैशाली महोत्सव में जन-मनोरंजन की धारा जो फूटी, उसकी ताजगी मे १९४७ के बाद से उत्तरोत्तर बढती ही गई। कौन जानता था कि उस वैशाली के आंगन में गीतों की वह कथा प्रवाहित होने लगेगी जिसके बारे मे सन् १९३१ में कवि मनोरंजन ने आह भरी थी कि हे कवि, तू किस करुण गाथा का गान सुनाने आया है ?

करुण कथा उल्लास की धारा बन गई और वैशाली मे मैंने और मेरे साथियों ने उस लोक-मनोरंजन की अपरिमित सम्भावनाओं की झांकी पाई। दिनकर की परिमार्जित भाषा मे आह्वानपूर्ण कविता सुनने के बाद जब मैंने ग्रामवासियों से अपने गान उठाने को कहा तो एक बार उन्हें यकीन हुआ ही नहीं कि उन धुनों में किसीको कोई दिलचस्पी भी हो सकती है। झिझकते स्वर फूटने लगे और उसके बाद वैशाली से मछुओं की एक टोली सामने आई जिसने चैती, कजरी तथा उस क्षेत्र की अनेक ग्राम-धुनों में झूम-झूमकर वृन्दगान प्रस्तुत किए। शायद ये मछुए उन नाविकों के वशज हैं जिनकी नौकाएं गंडक नदी से गगा के पथ से होती हुई बंगाल की खाड़ी पार करके मलय द्वीप, जावा तथा श्याम तक की दौड़ लगाती थी। भाषा निश्चय ही बदली होगी, किन्तु उन स्वरों मे सदियों की प्रतिध्वनि समाई हुई थी। हजारों ग्रामीण नर-नारी मध्यरात्रि तक उन स्वरों पर झूमते रहे।

वैशाली महोत्सव अनेक अर्थों में स्वतन्त्र भारत के सामूहिक आमोद-प्रमोद की भावना का प्रतीक है। न तो किसी धार्मिक पर्व, न साम्प्रदायिक आग्रह और न राजनीतिक उद्देश्य से वह महोत्सव प्रभावित हुआ। उद्देश्य केवल यही था कि भारतवर्ष की प्राचीनतम गण-

तंत्र-भूमि में इसके अतीत गौरव की याद में जनसाधारण गीत, नृत्य, नाट्य आदि के श्रद्धा-सुमन अर्पित करें। ऐसा करते समय उनका आत्मविश्वास पुनः जाग्रत् हो एवं उनकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति उनकी दमित भावनाओं को प्रकट कर सके। इस उत्सव और वामपंथी इंडियन पीपिल्स थिएटर के आक्रोशपूर्ण, वर्ग संघर्षों के आह्वानों से भरपूर प्रदर्शनों में भारी अन्तर है। वैशाली महोत्सव की जनता जिहाद करने के लिए जमा नहीं होती। वहां नारे नहीं लगते। वहां तो एक लाख से ऊपर नर-नारी विमुग्ध और विमोहित होकर प्राचीन गणतंत्र वैशाली की गौरव-गाथाएं सुनते हैं और उनके नाट्य प्रदर्शन देखते हैं। और सुनते हैं अपनी ही बोली में वे लोकधुनें जो अगणित बार गाई जाने पर भी ताजा ही रहती हैं।

वह सिलसिला अभी तक जारी है और पिछले २७ वर्षों में वैशाली महोत्सव शायद भारतवर्ष में अपने ढंग का अनूठा महोत्सव रहा है जिसे वर्ष-प्रतिवर्ष वहां की जनता नये अलंकरणों से विभूषित करती रही है। मछुओं की टोली के बाद प्रकाश में आईं वहां की रस-विभोर नारियों की मंडलियां, जिनके गीतों में धीरे-धीरे ऋतुओं और पर्वों की गाथाओं के साथ-साथ प्राचीन वैशाली की गाथाएं भी झलकने लगीं। बुद्ध और महावीर, अंबपाली और सिंहसेनापति तथा वैशाली की अनेक प्रकार की विभूतियां गीतों के विषय बनने लगें—यानी आत्मविश्वास के साथ गीतों में नये गान का क्षितिज भी उदित हुआ। मुसलमानों के झरनी नृत्य को भी महोत्सव में स्थान मिला। छोटे-छोटे फटे बांसों के टुकड़े चट्टों की तरह बजाती हुई ये टोलियां कर्बला की स्मृति में गोल चक्करों में नृत्य करती हैं।

सन् १६४७ के बाद तुरन्त ही लोक-मनोरंजन की इन संभावनाओं के प्रति सारा देश जागरूक हो गया हो, ऐसी बात नहीं। किन्तु बिहार में शायद इस वजह से कि सन् १६४२ का आंदोलन वहां इतना तीव्र था, ग्रामीण जनता की सांस्कृतिक वाणी का ओज शीघ्र और सर्वाधिक मुखरित हुआ। दिल्ली से पहले ही वहां पर सन् १६५१ में संगीत-नृत्य-कला अकादमी की स्थापना हुई और उसके तत्त्वावधान में पटना और

रांची मे लोक-महोत्सवों का आयोजन हुआ। इन लोक-महोत्सवों की विशेषता यह थी कि इनमें ग्रामों एवं आदिवासी जातियों के गीतों और नृत्य को प्रधानता दी गई। इसके अतिरिक्त भिखारी ठाकुर जैसे लोक रंगमच के उत्कृष्ट कलाकारो को अवसर मिला उन लोगों के सम्मुख अपनी प्रतिभा के नमूने दिखाने का जिन्हे अनुमान ही नही था कि कितने हीरे धूलिधूसरित पड़े है। इसमें संदेह नही कि बिहार की नागरिक सस्कृति पर भी वहां के देहाती अचल का व्यापक प्रभाव रहा है और इसीलिए जब पटना मे सन् १६५१ मे भिखारी ठाकुर के नाटको का प्रदर्शन हुआ तो असख्य जनता उमड़ पड़ी। तब रसज्ञो को अपने माप-दंड भी बदलने पड़े।

इस बीच आकाशवाणी के क्षेत्रीय केन्द्रों का विस्तार हुआ। क्षेत्रीय केन्द्रों को बहुसख्यक जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए यह जरूरी था कि स्थानीय सास्कृतिक विधाओं को अपने ब्रॉडकास्टिंग प्रोग्रामो मे प्रमुखता दें। पटना, जलंधर, कटक, गौहाटी, इंदौर, कालिकट, बंगलौर, धारवाड़, श्रीनगर, विजयवाड़ा—इन सभी स्थानों में तीन-चार वर्षो के दौरान नये केन्द्र खुले। यद्यपि ये केन्द्र प्रमुख केन्द्रों तथा दिल्ली से प्रसारित होने वाले प्रोग्रामों को रिले करते थे तथापि बिना स्थानीय रंगत के इनके प्रोग्रामों की कोई सत्ता ही न हो पाई और स्थानीय रंगत केवल शास्त्रीय संगीत और नगरवासियों के हल्के-फुल्के गानों से ही तो प्रकट नहीं हो सकती थी। प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य को इन केन्द्रो के द्वारा वाणी अवश्य मिली। पर साहित्यिक कार्यक्रमो के लिए श्रोता-समुदाय सीमित था। इसलिए लोकगीत और लोकनाट्य जो प्रारम्भ मे केवल ग्रामीण कार्यक्रमों के अंग थे, धीरे-धीरे मनोरजन के प्रधान साधन बन गए। ऐसे ही प्रोग्रामों मे था पटना का भोजपुरी प्रोग्राम 'लोहा सिंह'। ऐसे लोकप्रिय पात्र अनेक रेडियो स्टेशनों मे सक्रिय हुए। लेकिन इसके अतिरिक्त अनेक सम्मोहक और प्रभावोत्पादक कंठ आकाशवाणी द्वारा ही पहले-पहल विशाल श्रोता-समूह तक पहुंच सके। राजस्थान के जयपुर केन्द्र और सौराष्ट्र एवं गुजरात के केन्द्रों ने बीकानेर, जोधपुर, उदयपुर आदि के पुराने

गायक-गायिकाओं और उनकी शैलियों को उद्‌भासित किया।

कुछ समय उपरांत ये ही शैलियां उछलती और किलकती हुई बम्बई की फिल्मी राहों पर भटक गई और अनेक हिन्दी फिल्मों मे इन्हीं धुनो के आधार पर नये गीत प्रस्तुत हुए। देहाती लोक-रुचि का क्षितिज विस्तृत होने लगा।

सन् १९५२ में पं० जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रीय लोकनृत्य समारोह का सूत्रपात किया। अपनी दिव्य दृष्टि से मानो उन्होने देखा कि भारतवर्ष की विविध रंग और स्वरों से सम्पन्न सस्कृति को यदि एक विराट् स्वरूप में देशवासियो के सम्मुख प्रस्तुत नही किया गया तो उनमें एक राष्ट्र की भावना के बीज पड़ नही पाएंगे। उन्होंने यह भी देखा कि ये ग्रामवासी, ये वन्य-जातिया जो देश के कोने-कोने मे बिखरी हुई है और अपने दैनिक जीवन मे राग और नर्तन के उल्लास की अनुभूति को सजग रखती रही हैं, ये आखिर कब तक नगरों के कृत्रिम किन्तु अधिक चमक-दमकवाले प्रदर्शनों के प्रभाव से बच पाएगी। यदि उन्हें बचाना है तो उन्हें अपनी ही कला और स्वर की मधुरिमा मे विश्वास जगाने की जरूरत होगी। इस तरह पं० जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रीय नृत्य-समारोहों में लोक-मनोरंजन की बिलकुल नई संभावनाओं की ओर संकेत किया। पहली बार जब बिहार से मुझे एक लोकनर्तक-मंडली को दिल्ली भेजना हुआ तो उस दल के नायको ने मुझसे फरमाइश की, "हम लोग दिल्ली जा रहे है; वहां बड़े-बड़े लोगो के सामने हमे अपने नृत्य दिखाने होंगे; पोशाक भी तो ढंग की चाहिए। आप हमारे लिए कमीजों और पतलूनों का इन्तजाम कर दें।" मैंने कहा, "आप अपने इसी रगीन दुशाले और लंगोट ही मे जाकर दिल्ली में अपनी कला का प्रदर्शन करें और लौटने पर आप मुझे बताएं कि इनसे आपका सम्मान बढ़ा या घटा। यदि सम्मान घटेगा तो मैं अवश्य ही आपके लिए कोट और पतलून की व्यवस्था करूंगा।"

वह दिन था और आज है। आदिवासियों के रंगीले किन्तु अल्प वस्त्रों की छटा दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता इत्यादि नगरों पर छा गई है। आंध्र प्रदेश के लम्बाड़ियों की 'बैकलेस' चोली, पीतल के घटों को

सभाले उनका मदगति नृत्य, हिमालय के जौसर बावर की पहाड़ियों और घाटियों को गुजाने वाले ऊर्ध्व स्वरों के अनुसरण पर थिरकने-वाली पगध्वनिया और मध्य प्रदेश की मेरिया जाति के उमड़ती तरंगो-से नृत्य—ये सभी दिल्ली की जनता के मन मे बस गए है।

राष्ट्रीय नृत्य-समारोह ने राज्यो मे भी एक नये सिलसिले को जन्म दिया। महाराष्ट्र मे 'तमाशा' और 'भवई' के विशेष वार्षिक समारोह शुरू हुए और यो विस्मृत होती हुई नाट्य शैलियों को अनेक नई टोलिया सामने आई। राजस्थान मे पिछले दिनो वहा की संगीत नाटक अकादमी के तत्त्वावधान में कभी ख्याल महोत्सव, कभी भवई महोत्सव, कभी लोकनृत्य महोत्सव मनाए जाने लगे।

इधर रेडियो स्टेशनो ने सन् १९५५ और १९६० के दरम्यान दर्शको के सम्मुख नाना प्रकार के प्रोग्राम प्रस्तुत करने शुरू किए। पहली बार अनेक जात्रा-पार्टियों—मैसूर के यक्षगान, आंध्र के कुचुपुडि, बिहार के विदेसिया, हरियाणा के साग दलो की कला ने शहरी दर्शको को अचरज मे डाला, कभी-कभी मंत्रमुग्ध भी किया। इस बहाने इन दलो की आमदनी का नया सिलसिला भी शुरू हुआ।

ज्यों-ज्यो पुरानी रियासतो के राज-दरबारों के हाथ खिचने लगे, त्यो-त्यो नये प्रशासकों को बरबस लोकोत्सवों के आयोजनों को चालू रखने का भार ग्रहण करना पडा। यह बात दूसरी है कि रसज्ञता की परम्परा से विहीन ज़िलाधिकारियो, कमिश्नरों और मिनिस्टरों में रुचिकर और कलात्मक आयोजनों के लिए क्षमता ही न थी। भाषणों और मालाबाजी का ज़ोर बढ़ने लगा। फिर भी सरायकेला के छाउ नर्तकों, काशी-नरेश की रामलीला मंडली, मणिपुर के महारास नर्तक इत्यादि को जन-समुदाय के समक्ष अपनी कला-प्रदर्शन के मौके मिलते रहे।

कहीं-कहीं स्थानीय संस्थाओं ने 'पैट्रोनेज' (संरक्षण) के सूखते स्रोतों को पुनर्जीवित रखने के लिए नगरों से सहायता और निर्देशन पहुंचाने की व्यवस्था की। मद्रास संगीत अकादमी ने तंजोर के निकट मेलातूर गांव मे तीन सौसाल पुराने भागवत मेल नाट्य को चालू रखने के लिए

साहसपूर्ण कदम बढ़ाए। मैसूर में उडीपी ग्राम मे मैसूर संगीत नाटक अकादमी ने भी वहां के प्राचीन यक्षगान महोत्सव के विकास के लिए बहुत कुछ साधन एकत्र किए।

सन् १९६१ में रवीन्द्र जयंती अवसर पर विभिन्न राज्यों की राजधानियो में जो रवीन्द्र थिएटर बनाए गए उनका नागरिक जन-मनोरंजन के उन्नयन में सीमित योगदान ही रहा। किन्तु सन् १९६५ के बाद से भारत सरकार द्वारा संस्थापित संगीत नाटक अकादमी ने एक सुनिश्चित योजना के आधार पर देश के विभिन्न भागों मे नृत्य-नाट्य प्रदर्शन करनेवाली मंडलियों को राजधानी मे आमंत्रित किया। नई दिल्ली मे विशाल जनसमुदायों के सामने खुले मंच पर इन प्रदर्शनों ने अनेक नागरिक कला-मर्मज्ञों की आखें खोल दी, लोक-मनोरंजन के रस और अभिव्यंजना की बारीकियों का उद्घाटन किया।

पिछले दिनों एक और भी दिशा में लोक-मनोरंजन का शंखनाद शहरी जनता को सुनाई पड़ रहा है। हबीब तनवीर को क्या सूझी कि एक अद्भुत पनवाड़ी को, जिसकी न शक्ल है न सूरत, और एक विलक्षण कथाकार (पूनाराम) को अपने नगर रायपुर के आसपास के देहातों से मय अपनी पार्टियो के, पकड़ लाए। राजधानी के कला-मर्मज्ञ दंग रह गए इन दोनों की प्रतिभा देखकर—अकेला व्यक्ति कैसे बहुपात्री अभिनय का इन्द्रजाल खड़ा कर सकता है, इसका थोड़ा-बहुत अन्दाज वे कर सके। जिस बात को बरसों से अपने लेखों और भाषणों में कहते-कहते मैं थक गया था और जिसके जवाब में मुझे प्रायः उपेक्षा, अविश्वास ही मिले और कभी-कभी यह झिड़की कि मैं दकियानूसी रंगमंच को खीचतानकर जिन्दा रखना चाहता हूं, वही बात पूनाराम और रायपुर के पनवाड़ी ने अपनी विलक्षण परम्पराशील प्रतिभा की चन्द झाकियों द्वारा दिल्ली के फैशनेबिल रंगमंच-विधायकों, आलोचकों और विशेषज्ञों पर तड़ित् के प्रकाश की तरह झट से जाहिर कर दी।

अब तो यह आलम है कि भारतवर्ष का नौजवान और अत्याधुनिक नाटककार गिरीश कारनाड अपने 'हयग्रीव' नाटक मे बिना

झिभक के यक्षगान की शैली में संवाद, गीत और सूत्रधार-नटी की प्रस्तावना का प्रयोग करता है तो दिल्ली के अंग्रेजी समाचारपत्रों के कॉलम 'वाहवाही' से रंग जाते है। इन 'वाहवाही' करने वाले फैशनेबिल समालोचको को क्या मालूम कि सन् १९५४ ही में सुदूर बिहार में 'माथुर जी' यह प्रयोग कर चुके थे। 'कुंवरसिंह की टेक' नाटक शायद लोकनाट्य शैली में रची गई पहली आधुनिक रचना थी। यह बात जरूर है कि मैंने उसकी रचना दिल्ली के सम्भ्रात स्टेज के लिए नही की थी। मेरी रचना थी, राजस्थानी कठपुतली कलाकार सागर भट्ट और उनकी पत्नी के लिए! दोनों निरक्षर, दोनों गरीब, (उस समय तो गरीब थे ही), दोनो कलाप्रिय! लेकिन क्या जादू था सागर भट्ट की उगलियों मे, क्या उल्लास था उसकी पत्नी वसंती के कण्ठ मे। 'कुंवरसिह की टेक' के गीतों की एक-एक कड़ी उसके संवादों की एक-एक लड़ी समा गई दोनो के स्वरों मे; उसके पात्रों की एक-एक भंगिमा और मुद्रा थिरकने लगी उनकी कठपुतलियों मे। कुछ ही समय में चवन्नी मे अपना तमाशा दिखानेवाले सागर भट्ट ने 'कुंवरसिंह की टेक' द्वारा अपना आसन बिहार, उत्तर प्रदेश और राजस्थान के गावो और घरो मे ऐसा जमाया कि उसे शाम को अपनी मनभावन शराब के लिए पैसा मिला, वसंती को नये लहंगे, चुदरी और चोली। और माथुर जी को? माथुर जी को वह नियामत मिली जो हिन्दी के किसी नाटककार को नसीब नही हुई। सागर भट्ट अपना यह खेल दिखाता है, तो किसीको नही मालूम कि वह 'खेल' किसने लिखा! 'माथुर जी' को जगह मिल गई उस अनामिका रेपर्टरी मे जिसमें जनमानस इसी शर्त पर किसी नाटक को शामिल करता है कि नाटककार अपने नाम-ग्राम को जताने का मोह त्याग दे। कितनी आह्लादपूर्ण अनुभूति है यह एक लेखक के लिए! दूर किसी अजाने गाव मे देहाती बस्ती के हंसते-मुस्कराते मुखड़ो के बीच 'कुंवरसिंह की टेक' का प्रदर्शन होता है; सैकड़ो का मनोरंजन, सैकड़ों का ज्ञानवर्धन, सैकड़ों के मन में कुवर-सिंह की शौर्यगाथा का गेह। पर किसीको नही मालूम कि वे शब्द और गीत किस लेखनी की उपज है! इस देश मे युगों-युगों से अज्ञातनामा

कवि और कलाकार ही जनमानस का स्नेहपात्र बनता 'रहा है।'''यह अज्ञातनामा स्थिति उस ख्यातनामा स्थिति से कितनी भिन्न है जो अनामिका जैसी संस्था अपने नाम के बावजूद अपने अलंकृत नाट्य-कारों को प्रदान करती है !

इसी तरह कुछ बरस बाद वैसी ही शैली में लोकधुनों के आधार पर 'गगन-सवारी' नामक नाटिका भी मैंने रची। सागर भट्ट ने उसे भी अपनाया। यों न तो कोई 'प्रॉपर' साहित्यकार उस रचना को जानता है और न उसके लेखक को। हा, ओंकारनाथ श्रीवास्तव और आकाश-वाणी में उनके साथियों ने, अर्सा हुआ, यह किंवदन्ती अलबत्ता फैला दी कि आकाशवाणी के (तत्कालीन) महानिदेशक माथुर जी के आदेश 'गगन-सवारी' (ब्रॉडकास्टिंग हाउस की सबसे ऊंची अटारी) में बैठ-कर लिखे जाते हैं !

इन प्रयोगों का एक असर शहरी, विदेशी और पढ़े-लिखे रसज्ञों के लिए हुआ ! राजस्थान ही में जीवट कलाकारों और लोक-कलाकारों के नेता देवीलाल सामर ने कठपुतलियों का दल तैयार किया। नये खेल रचे, कठपुतलियों और दस्तानेवाली पुतलियों का गठबंधन किया। इन सावधानी से तैयार किए गए खेलों को उन्होंने देश के बड़े-बड़े नगरों में दिखाना शुरू किया। कलाकार थे प्राय: उन्हींके सुशिक्षित सहयोगी जिनमें से अनेक राजस्थान के परम्पराशील संगीत और कलाओं में रम चुके है। कुछ ही समय में उन्हें विदेश के कठपुतली-समारोहों में शामिल होने का अवसर मिला। देश की इस उपेक्षित कला को कीर्ति मिली। उसके बाद भारत लौटने पर दिल्ली ही में उन्हें सम्मान मिलने लगा, निमंत्रण प्राप्त होने लगे।

दिल्ली मे अब धीरे-धीरे लोक-कलाकारों के लिए कशिश आ गई है, उन्हें स्वीकार करने की समझ भी।

पर फिर भी, दिल्ली दूरस्त !

सो क्यों ?

इसलिए कि दिल्ली और अन्य महानगरियों में लोकगायकों, लोकनर्तकों तथा लोकनाट्य के कलाकारों को आमंत्रित कर यहां के

आरामदेह थिएटर भवनों मे उनका प्रदर्शन करने से ही लोक-मनोरंजन की विधाएं परिपुष्ट नही हो सकती। बल्कि डर तो यह है कि कही उनकी जड़ें ही न उखड़ने लगें। आज से लगभग ३५ वर्ष हुए, श्रीमती सरोजिनी नायडू के मुह से मैंने सुना, "मैंने कथकली का अभिनय बम्बई के ताजमहल होटल के प्रेक्षागृह मे भी देखा है और केरल के तालकुंजों की पृष्ठभूमि मे भी। कोई मुकाबला ही नही। वे तालकुंज तथा पीतल के दीपस्तंभ में बल खाती हुई वह लौ जैसा समां बांधती थी वह भला ताजमहल होटल को कहां नसीब होता ?"

उससे भी बड़ी बात यह है कि ये कलाएं जब अपने ही वातावरण में प्रदर्शित होती है तो कलाकार का आत्मविश्वास मजबूत होता है अपनी जीवनचर्या में, अपनी उपलब्धियों मे। असम के अंकिया नाट्य को मैंने वहा के मठ के भाओनाघर (मंडप) में देखा चटाई पर बैठकर— गायकों और वादको के बीच।

गौहाटी के रेडियो स्टेशन के डाइरेक्टर को मैंने सुझाया, क्यों न इस मंडली को रेडियो स्टेशन पर बुलाए और गौहाटी के संभ्रात लोगों और कला-मर्मज्ञों के समक्ष उसका प्रदर्शन करें ? उन्होंने मेरी बात मान ली। लेकिन उस समारोह के कुछ समय बाद उन्होंने दुखद शब्दो में लिखा कि गौहाटी नगर के प्रेक्षको की उपेक्षा का स्पर्श पाकर छुई-मुई की तरह ये कलाकार मुरझा गए!

हम इन कलाकारो को नगरो मे बुलाएं, उनको सम्मान दें, उनके रसभीने कला-कौशल की सराहना करें। यह सब ठीक है। लेकिन अकादमियों तथा राज्य सरकारो का कर्तव्य है कि अधिकतर धनराशि वे इस बात पर व्यय करें कि ये मंडलिया जिन स्थलों पर अपनी कला का प्रदर्शन वर्षों से करती आई हैं वही पर उन्हे सुविधाएं मिलें अपनी इस परंपरा को चालू रखने और परिपुष्ट करने की। इसके लिए आवश्यक है कि अपने मूलस्थानों में हर प्रदर्शन के लिए कुछ मानदेय दिया जाए, उनकी पोशाक इत्यादि के लिए उन्हें समय-समय पर सहारा मिले, जिस रंगशाला में वे प्रदर्शन करते हैं या जो मंडप इत्यादि बनाते हैं, उनके लिए उन्हे आवश्यक साधन उपलब्ध हों। बहुत अधिक

धनराशि की इन चीज़ों के लिए आवश्यकता नही है। दिल्ली, बम्बई, मद्रास, अहमदाबाद इत्यादि बड़े नगरों में आजकल जो आधुनिक नाट्य-मंडलियां स्थापित हुई हैं, वे तो एक-एक खेल तैयार करने में हज़ारों रुपयों की मांग करते हैं। बेचारे परंपराशील कलाकार अपने गांवों, मंदिरों और मेलों में वर्षों से अपने खेल दिखाते रहे हैं। उन्हे अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपेक्षाकृत अल्प सहायता से ही सहारा मिल सकता है।

लेकिन इस दिशा में कदम उठाए कौन ? हमारे सांस्कृतिक समारोहों के विधायकों को अधिक शाबाशी, अधिक सतोष, अधिक आह्लाद का अनुभव होता है बड़े नगरो में, बड़े-बड़े लोगो के सामने आयोजनो द्वारा। दूर किसी अनजाने कम्यूनिटी ब्लोक मे अथवा मदिर अथवा मेले मे, खुली रंगशाला में प्रदर्शन, या वैशाली महोत्सव की भांति शहर से दूर किसी साधारण-से गाव में लाखों जनता के समक्ष समारोह, इनसे उस आह्लाद की अनुभूति और वह वाहवाही तो नही मिल पाएगी। अखबारो में शायद जिक्र भी न हो। तब फिर ?

अखबारों की सुर्खिया नही मिलेंगी, कला-मर्मज्ञो से वाहवाही नहीं मिलेगी, किन्तु असंख्य नर-नारियो के कृतज्ञ नयनों की झाकी मिलेगी···। अब आप ही चुनिए !

आखिरी गूंज

रफीक ने अपनी क्लेरियनट उठाई और पच्छिम की तरफ देखा। डूबते हुए सूरज की अन्तिम किरणें बेबसी से धरती से दूर खिंच रही थीं। बादल का नाम नहीं था। और सामने ही पतझड़ द्वारा सूने किए गए एक पेड़ की काली नसें जाला ताने खड़ी थी, मानो उस किरण हीन आभा को समेटने की चेष्टा करती हों।

रफीक को लगा जैसे गीत की आखिरी गूंज साँझ बनकर आई हो।

उसने पुकारा, "आयशा, आयशा!" आयशा उसकी नौकरानी थी या रखैल या बीवी—यह आज तक उस नगर का कोई निवासी नहीं जान पाया। लेकिन बरसों से लोग उसे रफीक के साथ देख रहे हैं, नदी के साथ लुढ़कनेवाले पत्थर की तरह बेबस किन्तु आसक्त। रफीक, आयशा और क्लेरियनट किसी मौन सम्मिलित संगीत से अनुप्राणित वाद्यों की तरह थे जिसके रहस्य को रफीक के बैंडवाले साथी भी न समझ पाते थे।

रफीक बैंडमास्टर था, सूबे के बेहतरीन बैंडमास्टरों में से एक। उसके हाथों के इशारे पर गति उठती और गिरती थी, बिगुलों के स्वर खिंच-खिंचकर सारसों की गगनभेदी बोलियों की तरह चीख उठते, भारी और गहरे ट्रम्पेट बरबस गरज उठते, गोलियों की बौछार की तरह तंबूरे तड़प जाते, ढोल गंभीर नाद कर देता था। उस जादूगर के

एक इशारे पर स्वर, लय और नाद का महानद उमड़ आता जिसके बीच में अचल टीले की भांति खड़ा रहता, रफीक।

और तब उस महानद की उत्ताल तरंगों पर पूनो के चांद की मोहक रश्मियों की भांति तरल, स्पर्शहीन किंतु छविमान स्वर लहरियां क्लेरियनट से उतर-उतरकर नाचने लगती। पहले कुछ लजीली, कुछ झिझकती-सी, और फिर उठते खुमार की तरह मादक, उद्दामयौवना अप्सराओं की भाति चंचल वे अभिराम स्वरलहरियां उस बैंड के घोर निनाद पर रजत रागिनियों का झीना ताना-बाना बुन देतीं। उस स्वरलहरी के उद्गम-स्वरूप रफीक की काली क्लेरियनट सजीव हो उठती। उन श्वासों के साथ रफीक के प्राणों का स्पन्दन खिंच आता, और तब न रफीक रफीक रहता, न क्लेरियनट क्लेरियनट। वे एक-दूसरे को पाकर एक-दूसरे में खो जाते। और स्वर्गिक स्वर की वह दीपशिखा, सुननेवालों के मन में भावों के अलक्षित जगत्-मंडल को आलोकित कर देती।

रफीक की नजर उठी।

"आयशा, साफा और कमरबंद उठा दो, जाना है।"

"कहां?"

"सेठ चंदामल की लड़की की शादी है।"

रेशमी साफा, जिसपर हल्के गुलाबी रंग की धारियां अंकित थीं, सलवटों से भरे माथे पर खिंच गया। आयशा के सधे हाथों ने न जाने कितनी बार वह साफा बांधा होगा, वह कमरबन्द लटकाया होगा। उसने रफीक के भरे चेहरे और सुगठित शरीर की तरफ देखा। हवा का झोंका आया और रेशमी साफे का सिरा लहर उठा। पल्ला नाचने लगा। सूरज की सुनहरी किरणों ने उसके मस्तक को चमका दिया, सलवटों में छिपा मर्म क्षण-भर के लिए झलक उठा।

और क्लेरियनट! रफीक और आयशा की निगाह उसपर पड़ी—एक साथ।

"हकीम साहब ने क्लेरियनट के लिए मना किया है।"

"हूं!"

"फेफड़ों पर असर..."

"हूं।...लेकिन आमदनी का सवाल..."

"तुम्हें किसके लिए दौलत चाहिए ? मैं तो कुछ नहीं चाहती।"

"बैंड में पन्द्रह आदमी हैं; हरेक के बीवी-बच्चे हैं। मैं क्लेरियनट बजाऊंगा तो चंदामल खासी रकम दे देगा। बहुत मालदार है।"

"पैसों के खातिर रफीक का हुनर, रफीक की सेहत।" आयशा की गहरी सांस ने कंपानेवाली शीत की तरह एक लमहे के लिए कमरे-भर में सिहरन पैदा कर दी। रफीक ने खिड़की से बाहर की ओर निगाह डाली। दीवार से सटे नीम के घने पेड़ में अनगिनती अदृश्य चिड़िया फुदक रही थीं, चहक रही थीं, मानो नीम की डाली-डाली, पत्ती-पत्ती मुखरित हो गई हो। रफीक थोड़ा मुस्कराकर बोला—

"आयशा, ये चिड़ियां गा रही हैं या रो रही हैं ?"

"गा रही हैं, रोएंगी क्यों।"

"और भी कुछ।"

"क्या ?"

"वहां उनके घोंसले हैं, बच्चे हैं, उनके दाने-पानी की भी तो बात-चीत हो सकती है।"

आयशा ने एक भापा-भरी दृष्टि क्लेरियनट पर डाली और चुप हो रही।

अनायास रफीक ने क्लेरियनट को कसकर पकड़ा, मानो वह हाथ से गिरी पड़ती हो। उसकी मुस्कराहट चांदनी में पानी की लहर की तरह चमककर गायब हो गई।

एक हज़ार बल्ब; पेड़ की डाली-डाली पर रोशनी। आसमान के तारे भौचक्के होकर ताक रहे थे। शामियानों में हरे, लाल, पीले रंगों के कालीन। एक तरफ वर्दीवाले बैरा लोग और अंग्रेज मेहमानों के लिए इन्तज़ाम। दूसरी तरफ भट्ठी और कढ़ाई में से जल्दी-जल्दी उतरती हुई पूरी-कचौड़ी, चांदी के वर्कों में सजे श्रीदान और एक के बाद एक, कटे खेत में जोती हुई लीकों की तरह खानेवालों की पंगतें। बीच-वाले शामियाने में सप्तर्पियों के बीच ध्रुव की तरह तबलची, सारंगी-

वाले, और मुसाहबों के बीच बाईजी अपनी एक-एक अदा पर पांच-पाच सौ का प्रसाद पा रही थीं।

सेठ चंदामल ने भी बरसों का रुका बांध खोल दिया। मैली धोती और तेल से पगी पुरानी पगड़ी पहन-पहनकर जो दौलत इकट्ठा की थी आज वह दौलत मानो बाहर की हवा लगते ही भागी जा रही थी और सेठ की बाछें खिल रही थी। ढाई आने पैसे के लिए जो रिक्शा-वाले की फटकारें सुनते न अघाता था वह आज ढाई हजार रुपये होटलवाले के सामने सिर्फ इसलिए फेंक रहा है कि जिससे विलायती शराब के बेहतरीन से बेहतरीन नमूने मेहमानों के सामने मौजूद हों। चार दिन पहले अपनी सैकड़ों कोठरियों में से एक अन्धी गन्दी कोठरी के गरीब किरायेदार धन्ना चमार से लड़-झगड़कर किराये के चार रुपये वसूल करनेवाले सेठ जी चार हजार रुपये जालौन की आतिश-बाजीवाले को बख्शीश दे रहे हैं।

और दुनिया वाह-वाह कर रही है। रफीक ने दूर से देखा, सेठ चंदामल फूल-पत्तियों से सजे दरवाजे के पास खड़े अतिथियो का स्वागत कर रहे है और उनसे तारीफें सुन-सुनकर मगन हो रहे है। गुलाबी छीटेदार नई पगड़ी में फंसा काला मोटा चेहरा, रुपयों की थैलियों की तरह लटकते हुए गाल, दोनों तरफ बेखबर झुकी हुई गंगा-जमुनी मूंछों के नीचे मोटे बैंजनी होंठ और आंखे, मानो लकड़ी में गाठें पड़ी हों। रफीक उस चेहरे और वैसे कई चेहरे देखने का आदी था, पर आज वह सूरत उसे डरावनी जान पड़ी। और जब उसकी निगाह नीचे की तरफ गई तो उन दो पतली बदनुमा टांगों पर स्थित मांसल स्थूलता को देखकर वह एक क्षण के लिए घबरा उठा और उसने क्लेरियनट को कसकर दबा लिया, मानो उस मासूम क्लेरियनट पर वह स्थूलता बलात्कार करना चाहती हो, मानो…।

"और जी मुनीम जी, यह अंग्रेज़ी बाजा कब बजेगा ?" एक बराती ने सेठ के मुनीम से पूछा।

"अभी बजा जाए है। बड़ा लाजवाब बैंड है जी। लाट साहब के यहां बैंडों की बाजी लगी थी तो दूसरे नम्बर आया था।"

"यह बात है !"

"लेता भी तो दो सौ रुपये है एक शाम के। हमारे सेठ जी जैसे ही लोग तो बुलावे है।···क्यों उस्ताद जी दिखा दो न कुछ हुनर ?" मुनीम रफीक की ओर मुखातिब होकर बोला।

रफीक ने मुनीम की आवाज़ सुनी और उसकी तबीयत की कि वह दूर भाग जाए। क्यों, वह समझ न सका। आज तो वह दो सौ के अलावा सौ रुपये बख्शीश के मांगनेवाला था। आज तो इस जमाव के सामने उसे अपने हुनर का नायाब नमूना पेश करना है। आज तो उसे वह चीज़ बजानी है जिसे सुनकर मेहमान और मेज़बान और तमाशबीन फड़क उठें। फड़क उठें!···रफीक ने सेठ को देखा, उसके दूत मुनीम को देखा। क्या वे लोग फड़क सकते है? और वे गुदगुदे सोफों पर बैठे हुए आला सरकारी अफसर जो अपनी आठ सौ रुपये तनखाह की खातिर अपना वक्त दफ्तर, दोस्तों और दावतों में बड़ी संजीदगी के साथ लगाते है; वह कंट्रैक्टर साहब जिन्होंने खुशामद, रिश्वत और रसूख की बदौलत अपने लिए महल के महल खड़े कर लिए, वह अमरपुर के नवाब साहब जो ज़माने के साथ अपना चपकन और पाजामा छोड़कर पतलून और टाई में आ गए हैं, पर जिनकी गांववाली हवेली के बाहर ही कूड़े-कीचड़ और गुलामी के घोसलों में पले वे परकैंच पंछी फड़फड़ाते रहते हैं जिन्हे दुनिया रैयत कहती है—रफीक ने सोचा, क्या ये लोग फड़क सकते हैं!! दुनियादारी और ऐश और आत्मतृप्ति के अनेकों स्तर जिन दिलों पर जम गए हैं उन तक क्या ये स्वर-लहरियां पहुंच सकेंगी? लेकिन कम्पनीबाग में हर शनिचर को बैंड के चारों ओर शमा को घेरनेवाले परवानों की तरह जो तमाशबीन इकट्ठा होते थे वे तो सहज ही फड़क जाते थे। कैसा मंत्रमुग्ध-सा खड़ा देखता था वह काला पंखाकुली जिसके मा-बाप बचपन में मर गए थे और जो साहब के बरामदे में बिना कुछ ओढ़े हुए जाड़ो की रातें गुज़ारता था; और वह वृद्ध इक्केवाला जो कुछ लमहों के लिए अपने घोड़े को गाली देना भी भूल जाता; और वह गरीब पंडित जो बीस बरस से चटशाला में लड़कों को पढ़ाते-पढ़ाते भी अभी तक बीस रुपये माहवार पा रहा

है ! वे सब लोग तो क्लेरियनट की कशिश को रोक ही न पाते थे। रफीक ने सोचा, क्यों न अपने बैंड को समूचा उठाकर कम्पनीबाग में ले जाऊं, जहां मेरी क्लेरियनट के सुर चम्पा की सुगन्ध की तरह बरबस दिल-दिल में बस जाएं, और···

"उस्ताद, उस्ताद !" पास खड़े बिगुलवाले ने रफीक को झकझोरते हुए कहा।

"ऐं ?"

"आप सो रहे हैं उस्ताद ! इशारा दीजिए, बैंडवाले इन्तजार में हैं।"

रफीक ने खोई-सी निगाह अपने लाल वर्दीवाले साथियों पर डाली। चिड़िया के बच्चे अपनी नन्ही चोंचें आतुरता से खोले मां के दानों की जैसे प्रतीक्षा करते हैं ऐसे ही वे सब रफीक के इशारे का इंतजार कर रहे थे। होंठों पर बिगुल, हाथों में तंबूरे और ढोल बजाने की लकड़ियां और आंखों में बेताबी। रफीक के हाथ ऊपर से नीचे और फिर बायें-दायें चलने लगे; मन्त्र घुमाते ही मानो फव्वारे की कई धाराएं एक साथ फूट पड़ीं। रफीक की मुट्ठी अदृश्य सूत्रों को कभी खींचती, कभी ढील देती, कभी गगन-मंडल की तरह उठा ले जाती और कभी धरती से आ मिलाती। बादलों की तरह वे ध्वनियां इधर-उधर नाचती फिर रही थीं। वह सुनिए—वह कजरारी-सी कामिनियों का झूमना, उधर उन चंचल पदन्यासी नवोढ़ाओं का छिड़कना या उन श्लथ गजगामिनी रसमिक्त विलासिनियों का विहरना···।

और रफीक के हाथ चल रहे थे, ऐसे ही जैसे बरसों से ऐसे मौके पर चलते आ रहे हैं—कोई प्रयास नहीं, कोई ध्यान कोशिश नहीं। वह सोच रहा था और हाथ उसके चल रहे थे, साईकिल की फ्री-व्हील की तरह मन उसका अलग विचर रहा था। थोड़ी देर के लिए फिर उसे ताज्जुब हुआ कि यों अपने से बाहर वह क्योंकर हो गया। बरसों से शादियों और उत्सवों पर वह बाजा बजाता रहा है, बिल्कुल तन्मय होकर बैंड को साधता रहा है; वह तो अपने को खो देता था। लेकिन आज ? रफीक ने सोचा, आज मैं जो देख रहा हूं वह मैंने पहले क्यों

नही देखा ? मेरे ये बेसुध बैंडवाले साथी भी तो उसे नही देख पा रहे हैं। ये नादान बच्चे अपने चारों तरफ घिरती हुई साजिश को नहीं देख रहे है। नादान, मासूम···बैंड जारी था। भावों का सिलसिला भी जारी था। घिरे हुए, घिरे हुए···

मेहमानों के कई जमघट थे जिनकी ओर बैंड के स्वर उमड़ते, पर मानो आह करके रह जाते जैसे सागर की लहरें चट्टानों से टकराकर बिखर रही हों। कितनी चट्टानें थी वहा ! वकील साहब और नवाब साहब, बैंक के मैनेजर और कन्ट्रैक्टर, इन्कमटैक्स अफसर और ला० अमोलकचन्द—बातों में मशगूल बेखबर।

"बात यह है नवाब साहब कि जमीदारी के साथ आजकल कुछ कारबार की भी जरूरत है।"

"फरमाते तो आप दुरुस्त है।"

"कहिए तो शेयर-वेयर का इंतजाम करूं। सेठ मुझे बहुत मानता है।"

और—

"मि० घरनसिह, बैंक की रेपुटेशन भी तो कोई चीज है।"

"लेकिन आप कर्ज की शर्तें तो मुनासिब रखें, तभी तो। साठ मकान बनवाने का ठेका मिला है। कुछ रुपया आपकी नजर रहेगा, पर बैंक से एडवांस मे अच्छी रकम दिलवाइए।"

और—

"हुजूर तो सब जानते हैं; आज तक मुनाफा कहां मिलता है। सब व्यापार तो चौपट हो गया।"

"अजी लालाजी, हाथ को हाथ से सहारा मिलता है।"

"हं हं हं ! वह तो हई है हुजूर। हजार-पांच सौ का तो इंतजाम हो ही जाएगा।"

और बैंड बज रहा है। सुधा बरस रही, बरस रही है। पर चट्टानों में गड्ढे भी नही जहां वह चुल्लू-भर भी ठहर सके।

बाजा रुका। मुनीम और मेहमान, जो फरमाइश करने के बाद ही से दहेज के ब्योरे बखानने में लग गए थे, बाजा रुकने पर रफीक

रफीक की क्लेरियनट होंठों से जा लगी। बुझते हुए कोयलों में जैसे किसीने फूंक मारना शुरू किया हो और वे धीरे-धीरे फिर से सुलगते हों, ऐसे ही वे बैंडवाले नई मस्ती से प्रज्वलित होने लगे। और वह फूक जोर पकड़ती गई। वह क्लेरियनट की फूक थी या एक लपट या तड़ित् की एक टुकड़ी जिसने सारे मजमे को चकाचौंध कर दिया। वह फैलती ही गई और इतने बड़े जमघट में नीरव भी फैलता गया। खानेवालों के हाथ थम गए, परोसनेवाले ठिठककर रह गए, कहकहे मारनेवाले अवाक् हो गए। नीले आसमान के गुम्बज पर वह रागिनी सरकने लगी—किवाड़ के संद में से सनसन करनेवाले समीर की तरह। फिर वह बड़ी निरावलम्ब, छल-छल, कल-कल, अमल बुदबुदों की-सी रागिनी और फिर मानो सारा गुम्बज गूंजने लगा—गुनन, गुनन, गुनन, गुनन। ध्वनि, प्रतिध्वनि, गूंज पर गूंज!!

सेठ चंदामल का ध्यान बंटा, 'बजा तो अच्छा रहा है यह रफीक। मेरी बेटी की शादी में ही हुनर न दिखाता तो कब दिखाता? चलो, मैं भी जरा इसे निहाल कर दूं। गरीब आदमी है।' सेठ जी ने अंटी में से सौ-सौ के दो नोट निकाले। सोचा, 'मौके-मौके पर बात अच्छी लगती है। इसी वक्त जो हथेली पर दो सौ रखूंगा तो लोग ख़ूब वाह-वाही करेंगे कि देखो सेठ जी ने भी क्या कदरदानी दिखाई है।'

मुट्ठी में नोट बांधे, मुस्काते-मुस्काते सेठ जी ने बैंडवालों की ओर कदम बढ़ाए।

रफीक की आंखें क्लेरियनट की नोक के ऊपर थी, खुली मगर दृष्टिशून्य—मानो और इन्द्रियों के साथ आंखें भी रागिनी की मादकता में केन्द्रीभूत हो गई हों।

सहसा उसे लगा कि कोई विशाल छाया उसपर और क्लेरियनट पर पड़कर स्वरों को रोक रही है। उसने देखा—'ऐं, यह क्या, वह चट्टान मेरी ओर आ रही है—वह सेठ जी! उनका काला ढीला चमचमाता हुआ चेहरा कैसा डरावना है। हाथ बंधे हैं। जरूर मुझसे मेरी प्यारी क्लेरियनट छीनने के लिए आ रहे हैं। उनकी आंखें जल रही हैं, उनके नथुने फूले हुए हैं। ज़रूर वह मुझे भी मेरी क्लेरियनट

से अलग कर देंगे। तब मैं कैसे जिऊंगा ? मेरी सारी सांस तो क्लेरियनट के भीतर ही है। अच्छा, तो मैं भी क्लेरियनट को होंठों से बिलकुल दवाए लेता हूं और जोर से, बहुत जोर-जोर से फूंक मारूंगा। जिससे तांता न टूटे। सांस का एक लगातार बहाव जारी रहे। तब तो क्लेरियनट मुझसे नहीं छूटेगी, नहीं छूटेगी, नहीं, नही...'

सेठ चंदामल और आगे बढ़े। रफीक बदहवास था। सारा बैंड एक चोट में ही शीशे के फानूस की तरह गिरकर चूर-चूर हो गया। बिगुल, ट्रम्पेट, ढोल सबकी आवाज़ें तितर-बितर हो गईं। रागिनी के तार टूक-टूक हो गए। और इस हलचल के ऊपर से एक करुण दर्द-भरा न रुकनेवाला स्वर क्लेरियनट से निकल-निकलकर सारे वायु-मंडल में व्याप्त होने लगा, मानो व्याध के हाथ में फंसा हुआ पंछी चीख रहा हो, चीख रहा हो।

रफीक का सिर आयशा की गोदी में था। मुंह में से खून की धारा बह रही थी। हकीम ने कहा कि ज़ोर पड़ने की वजह से फेफड़े फट गए हैं।

और रफीक की कसकर बंधी हुई मुट्ठी में थी उसकी क्लेरियनट।

कोहरा हट गया

जैसे उजाला होने से पहले सफेद कोहरे की टुकड़ी धरती के अंधियाले और आकाश की नीलिमा के बीच सिकुड़ी-सी अधर लटकी हो—ऐसी है मेरी तितली।

तितली उसे कहता हूं उसके रंग-बिरंगे कपड़े देखकर, और इसलिए कि मैंने एक रोज उसे सुझाया था कि मेरे लिए उसका प्रेम शायद ऐसा ही है जैसा एक तितली का बाग के नये फूल के लिए। बीसियों फूल खिलेंगे और उसका भी चित्त भटक जाएगा। और वह बिगड़ उठी।

लेकिन असल में न तो उसमें तितली की अस्थिरता है और न मुझमें फूल का सौरभ। जैसे खिड़की से कमरे में आकर एक चिड़िया बाहर जाने का रास्ता भूल जाए, ऐसी भटकती-सी हैं उसकी आंखें। और जब वह मुस्कराती नहीं तो मैं कांप उठता हूं। उस समय वह तितली नहीं, दीपक की लौ बन जाती है, या तूफान से छिटकी हुई हवा की एक लहर, या वही एकाकी, मौन, शुभ्र कोहरे की टुकड़ी।

फिर भी मैं उसे तितली कहता हूं, इसलिए कि उसके उस सौम्य रूप को भूल जाऊं। भूल जाऊं प्यार के उस निर्वाक्, निर्निमेष, सीमाहीन शीतल अनुभव को; शीतल ऐसा मानो किसीने ठण्डे लोहे के टुकड़े को छुआ हो।

आप यकीन नहीं करेंगे। उस प्यार की सांसों में गरमी नहीं थी, उस चुम्बन में मादकता नहीं थी, उस स्पर्श में ताप नहीं था। वहां तो

एक सिहरन थी, एक ठिरन। जाड़े में चोट लगने पर रक्त नीला होकर जम जाता है। उसकी भावनाएं मुझसे टकराकर जम गई थीं और मैं उसके उस नीले सौन्दर्य को देखकर सिहर उठता था।

एक, दो, तीन—लगातार तीन चिट्ठियां आईं, पर मैंने कलम न उठाई। आज फिर उसकी चिट्ठी आई है। "जवाब क्यों नहीं दिया? इज्जत का ख्याल था? इज्जत इतनी प्यारी है?"

मैं फिर कांप उठा। हां, मुझे इज्जत प्यारी है। मुझे इस प्रेम के मौन पागलपन से भय लगता है। मैं तुम्हारी इस अव्यक्त आतुरता से दूर हटना चाहता हूं।

मैं जीवन की असलियत को जानता हूं। मेरे पैर धरती पर जमे हैं। मैंने दुनिया देखी है। मैंने किताबें पढ़ी है, अध्ययन किया है। मैं जानता हूं कि जिन्दगी में पीड़ा है, ओछापन है, स्वार्थ है, घोर पार्थिवता है। तितली, तुम्हारी इन क्यारियों के परे एक और भी तो दुनिया है, गरीबों की दुनिया, पूंजीपतियों के शिकार मजलूमों की दुनिया, भूखे किसानों की दुनिया!

मैं फिर कांप उठा। मेरे बंगले के सामने सड़क बन रही थी। जेठ की दुपहरी में, तपते हुए तांबे के-से चेहरेवाले मजदूर खट-खट पुरानी सड़क को गैंती से खोद रहे थे। लू के थपेड़े आते थे और उनके पसीने को सुखा ले जाते थे। कमर तक नंगे, जांघ तक नंगे, हाड़-मांस के वे पुतले केवल सांस पूरी करने के लिए गर्दन उठाते थे, वरना लगातार वही खट, खट, खट। दूर पर जंजीरों में बंधे दानव की तरह एंजिन खड़ा था। ड्राइवर उसके पुर्जे ठीक कर रहा था—खट, खट, खट। मेरे चारों ओर हवा में जैसे कोई कीलें ठोंक रहा हो—खट, खट। मैं उठा; मेरे कदमों में भी मानो किसीने वही ध्वनि भर दी थी—खट, खट, खट।

बराबर में महाजन की दुकान है। महाजन महाजन है, लेकिन पान की भी दुकान करता है। शुरू में महाजन की बीवी, यानी भलकिन की रसीली आंखों ने नये रोजगार को चमका दिया था। अब न उन आंखों में रस है, और न उस ढलती जवानी में बाबुओं का मनबहलाव।

लेकिन अब महाजन की बिटिया 'तैयार' हो गई है। उठता यौवन, थिरकते पैर, चंचल नयन,—महाजन की बिटिया बाबुओं की ज़बान में एक 'चीज़' थी। मैं रोज़ देखता था—बाबू ने पान मांगा, उसने उसी अन्दाज से झुककर अंगड़ाई ली, उसकी कमर में उतनी ही लचक आई, उसके होंठों पर उतनी ही मुस्कान चमकी; उतने ही मिनटों में पान लगाकर ठीक उसी अदा से उसने बाबू को पान पकड़ाया, और बाबू की बाछें खिल गईं। रोज वही बात, हर बाबू के साथ वही व्यवहार, ग्राहक का उतना ही मनोरंजन। मुझे जान पड़ा मानो महाजन की बिटिया भी मशीन बन गई है। जब वह मुझे पान देने आई तो *उसकी हर क्रिया में, हर अदा में मुझे वही ध्वनि सुनाई दी—खट,* खट, खट।

पास ही महाजन बैठा था। न अपनी बीवी और बाबुओं की इशारेबाज़ी पर उसे आपत्ति थी और न अपनी बिटिया से ठिठोली करनेवालों से वह झगड़ता है। महाजन व्योपारी आदमी है। हर बात को रोज़गार की दृष्टि से देखता है। बाबुओं के मनबहलाव से उसे पैसा मिला। बाबू लोग जिसे इज़्ज़त कहते हैं वह तो उन्हींकी भाषा का शब्द है। छोटे लोगों और व्योपारियों की भाषा में इज़्ज़त नाम का कोई शब्द नहीं। महाजन ने पूंजी इकट्ठा की, बाबुओं की बदौलत; अब वह उस पूंजी को बढ़ाता है—मज़दूरों, कुलियों, इक्केवालों की बदौलत। ज़रूरत के वक्त उधार देता है, मौका पड़ने पर दुगुना वसूल करता है। महाजन व्योपारी आदमी है। उसके होंठों पर मुस्कान आते हुए डरती है, उसकी आंखें चलती नहीं, केवल आगे या पीछे सरकती है। मटमैली धोती और बनयान के नीचे उसका काला, मोटा और भद्दी तरह से चमकता हुआ शरीर तेल के पीपों की याद दिलाता है। महाजन रोज़गार को अच्छी तरह समझता है। इसलिए प्रतिदिन बिला नागा दोपहर में वह घण्टे-भर रामायण भी बांचता है। वह जानता है कि व्योपारियों की इस सृष्टि में राम जी सबसे बड़े व्योपारी है। "आगे चले बहुरि रघुराई। ऋष्यमूक पर्वत···" अटकती-सी उस बेसुरी आवाज़ में भी जैसे किसीने उसी घड़ी की चाभी भर दी हो, मेरे कानों

मे रामायण के वे शब्द भी मानो कह रहे थे—खट, खट, खट।

सहसा महाजन ने पुकारा, "चन्दन, ओ चन्दन !" उसकी नज़रों का पीछा करते हुए मैंने देखा, सड़क पर काम करते हुए मजदूरों में से एक के हाथ रुके। उसकी गर्दन उठी। महाजन बोला, "अरे चन्दन, हिसाब करने की मरजी है या नही। उतरते जाड़ों मे रुपया लिया था। पाच महीने होने आए। कहां तक सबर करूं ?"

"थोड़ा और ठहर जाओ, महाजन। दस दिन की बात···"

"हर तकाजे पै वही जवाब तैयार। अरे, तू कौन मेरा दमाद है जो तेरे नखरे बर्दाश्त करूं। देना है दे, वरना साफ नही कर दे। फिर सब वसूल कर लूंगा।"

मैंने देखा, चन्दन के चेहरे पर न जाने किस लोक की मुस्कान पल-भर को चमकी और फिर गायब हो गई। आंखें गड़ाकर मैंने उसकी ओर देखा, नौजवान आदमी, गठा शरीर, मेहनत और भूख ने अभी उसके ताजेपन पर अपने कारनामे न दिखाए थे। रंग गेहुंआ, सुघड़ नाक, चौड़ी छाती, छरहरा बदन, हाथ की गैंती पर झुका हुआ वह मजदूर सौन्दर्य, स्वास्थ्य और सत्य की दुनिया से भटका हुआ किन्नर जान पड़ता था। महाजन की दुकान के शीशे में मैंने अपनी शक्ल देखी, तेल से चुपड़े बाल, चश्मे के पीछे थकी-सी आंखें, गिरते हुए गाल, सूखते से होंठ, पतली गर्दन। आंखें फेरकर फिर चन्दन की ओर निगाह डाली। उसकी झुकी पीठ दिखाई दी। धूप मे खाल के नीचे खून चमक रहा था। शीशे में अपनी छाया और धूप में चंदन की पीठ की चमक ! ···मैं···फिर कांप उठा।

उस समय मुझे जान पड़ा जैसे तितली का वह सारा संसार बर्फ के सफेद महल के समान गरमी पाकर गल रहा हो। उसका सारा सौंदर्य, उसका सारा सपना, उसका सारा जादू धीरे-धीरे पिघलने लगा—टप, टप, टप।

मैंने सोच लिया। मैं जवाब नही दूंगा।

× × ×

चांदनी रात। जेठ की दुपहरी मानो अपने सताए हुओं को मनाने के लिए मनमोहक रूप धरकर आई हो। टूटी खपरैलों पर किरनें नाचने लगीं। पीपल के पत्ते हंसने लगे। प्रेमी की आतुर उंगलियों की तरह चांद की किरनें धरती के छिपे से छिपे अंगों को जगाने लगीं।

चांदनी बरस रही थी या जादू बरस रहा था। कहां थी अब महाजन की मनहूस दुकान, कहां थीं वे गंदी कोठरियां, कहां थे वे टूटे हुए इक्के? चांदनी के झीने परदे ने सब कुछ बदल दिया था। चुपचाप चांदी के कन बिखर रहे थे। सारा करनपुर मानो एक सुनी हुई रागिनी की याद में अधखुले नयनों से झूम रहा था।

सहसा उस मौन रागिनी में बीसियों स्वरों का वेग उमड़ पड़ा। अपने दरवाजे से मैंने देखा, कुलियों और मजदूरों का एक समूह गाता-बजाता चला आ रहा था। एक के गले में ढोल लटका था, एक के हाथों में झांझ थी। एक ने लाल रंग की धोती को सिर तक ढककर नटिनी का वेश बनाया था। अपनी मजबूत कमर को बेढंगेपन से मटकाता हुआ, हाथ-पैरों को इधर-उधर फेंकता हुआ वह 'जंतु' भी चांदनी में गंधर्व जान पड़ता था। पास ही उन्मत्त स्वर में चंदन गा रहा था और अन्य मजदूर उसके शब्दों को दुहरा रहे थे—

"कैसी सजाई सेजइया, कमर मोरी लचकै।
ए मोरे साजन, कलाई मोरी तड़कै॥

ढोल पर हथेलियां थिरकने लगी। नटिनी ने पल-भर में न जानें कितने चक्कर लगा लिए। आपसे-आप ताल ठुकने लगीं, गरदनें हिलने लगीं। मोटी, फटी बेसुरी आवाजों के उस कोरस में से एक ऐसा विराट् संगीत उमड़ पड़ा जैसा सागर की उन्मत्त लहरों में से निकलता है।

बाहर निकलकर मैंने देखा, जुलूस महाजन की दुकान के आगे रुका। मालकिन दुकान के तख्त पर बैठी थी। बराबर में बिटिया खड़ी थी। महाजन शायद अंदर था, मानो उस मस्ती की दुनिया से वह निर्वासित कर दिया गया हो। सामने गानेवालों की टोली जमी हुई थी। आसपास के बुड्ढे और बच्चे दर्शक थे। बच्चे ताली पीटते; नौजवान

आवाज़ें कसते और बुड्ढे सिर्फ मुस्कराकर रह जाते थे। वह दृश्य मानो करनपुर की मानवी धरती से उठकर किसी स्वर्गिक लोक में चला गया था। मलकिन उस लोक की रानी थी; बिटिया राजकुमारी, चंदन और उसके साथी गंधर्व। चंदन गाता था या उसकी आत्मा बोलती थी। मलकिन परियों की रानी की तरह गाम्भीर्य और दर्प की मूर्ति बनी बैठी थी। बिटिया की आखों में गाने की हर लड़ी के लिए मूक प्रशंसा थी, होंठों पर रसीली हंसी। आंचल सरका पड़ता था, अंग-प्रत्यंग कुछ कहने को आतुर हो रहे थे।

मैं अवाक् था। दिन के सारे दृश्य स्मृति के अंधकार में डूबते-से जान पड़े, जैसे वह बाबुओंवाली बिटिया स्वप्न थी और यह राजकुमारी सत्य, जैसे वे सड़क कूटनेवाले मज़दूर एक भूली हुई दुनिया के भूत थे और ये गंधर्व ही जीते-जागते मानव।

मेरे हृदय में पीड़ा उठी, मेरे मस्तिष्क में अनिश्चय और संदेह का कुहासा। और मैं चल पड़ा मानो किसी खोई वस्तु की खोज में निकला हूं। वह परियों का संसार मानो मुझपर हंस रहा था, वह अनर्गल संगीत मानो मेरी नादानी का ही ढोल पीट रहा था, वह झांझ मानो मेरे संशय को ही सुना रहे थे।

सत्य या असत्य, स्वप्न या वस्तु, रस्सी या सांप!!

पैर आगे बढ़ रहे थे, सिर चक्कर खा रहा था। धीरे-धीरे वह गायन भी मंद होता गया। दूर से उस नीरवता को भेदता हुआ वह स्वर मेरे कानों में पड़ रहा था और मैं उससे बचने के लिए आगे बढ़ रहा था। स्वर मंद हो गया, बहुत मंद और फिर शांत।

चांदनी थी, झाड़ियां थीं, मैं था, और मेरे हृदय में उठता हुआ कोहरा और उस कोहरे में तितली की अस्पष्ट मूर्ति। मैं मूर्तिवत् खड़ा रहा।

वही कंपानेवाला शीत, वही ठिरन, वही बर्फ का महल। उतरा हुआ जादू फिर चढ़ रहा था।

मुझे मालूम न हुआ कि मैं कब लौट पड़ा। जब कानों में कुछ मंद और अस्पष्ट शब्द सुनाई पड़े तो मैंने देखा कि मैं अपने बंगले के निकट

महाजन की दुकान के पिछवाड़े तक पहुच गया था। दुकान के पीछे हो दो गुलमोहर के पेड़ है जिनकी झुकी हुई डालियां दोपहर में कुलियों के बच्चों के लिए झूले का काम देती है। रात में पत्तियों के बीच चादनी छन-छनकर आ रही थी और अंधेरे और उजाले का ताना-बाना बुन रही थी। उन्हीं डालियों मे से एक के सहारे वही दो व्यक्ति खड़े थे जिनके अस्पष्ट शब्द मेरे कानों मे पड़े। दबे पांव मैं आगे बढ़ा। मैंने देखा, एक अनिर्वचनीय दृश्य।

चंदन और महाजन की बिटिया—राजकुमारी और गायक, अप्सरा और गंधर्व—प्रगाढ़ालिंगन में। भुजाओं में भुजा, वक्ष पर वक्ष, अधरों पर अधर!

कोहरा हट गया। तितली की मूर्ति साफ झलकने लगी। वर्फ का महरा संगमर्मर का महल बन गया।

कमरे में आकर मैंने कलम उठाई और लिखना शुरू किया, "मेरी तितली,…"

क्या लिखा यह आपको न बताऊंगा। वह आपके मतलब की बात नही।

• • •

मुद्रक : भारत मुद्रणालय, शाहदरा, दिल्ली-32

लेखक की अन्य रचनाएं

कोणार्क	(नाटक)
दस तसवीरें	(चरित-लेख-संग्रह)
पहला राजा	(नाटक)
जिन्होंने जीना जाना	(चरित-लेख-संग्रह)
मेरे श्रेष्ठ एकांकी	(एकांकी-संग्रह)
भोर का तारा	(एकांकी-संग्रह)
ओ मेरे सपने	(एकांकी-संग्रह)
शारदीया	(नाटक)
परम्पराशील नाट्य	(लोकनाट्य का इतिहास)